

**TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY**

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180134

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H 83.1 / M68N** Accession No. **G. H. 1620**

Author **मिना, ३ पादेवी - १**

Title **जोम चमेली**

This book should be returned on or before the date last marked below.

सरस्वती-सिरीज़ नं० ६०

नीम-चमेली

उषादेवी मित्र



प्रकाशक
इंडियन प्रेस लिमिटेड
प्रयाग

स्वरक्षती-सिरीज़

स्थायी परामर्शदाता—डा० भगवानदास, पण्डित अमरनाथ झा, भाइ परमानंद, डा० प्राणनाथ विद्यालङ्कार, श्री सत्यदेव विद्यालङ्कार, पं० द्वारिका-प्रसाद मिश्र, संत निहालसिंह, पं० लक्ष्मणनारायण गर्द, बाबू संपूर्णानन्द, श्री बाबूराव विष्णुपराइकर, पण्डित केदारनाथ भट्ट, ब्याहार राजेन्द्रसिंह, श्री पदमलाल पुत्रालाल बरूशी, श्री जैनेन्द्र कुमार, बाबू वृन्दावनलाल वर्मा, सेठ गोविन्ददास, पण्डित क्षेत्रेश चटर्जी, डा० ईश्वरीप्रसाद, डा० रमाशंकर त्रिपाठी, डा० परमात्माशरण, डा० बेनीप्रसाद, डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, पण्डित रामनारायण मिश्र, श्री संतराम, पण्डित रामचन्द्र शर्मा, श्री महेश-प्रसाद मौलवी फ़ाजिल, श्री रायकृष्णदास, बाबू गोपालराम गहमरी, श्री उपेन्द्र-नाथ “अरक्त”, डा० ताराचंद, श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार, डा० गोरखप्रसाद, डा० सत्यप्रकाश, श्री अनुकूलचन्द्र मुकर्जी, रायसाहब पण्डित श्रीनारा-यण चतुर्वेदी, रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास, पण्डित सुमित्रानन्दन पंत, पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी ‘निराला’, पं० नन्ददलारे बाजपेयी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पण्डित मोहनलाल महतो, श्रीमती महादेवी वर्मा, पण्डित अयोध्या-सिंह उपाध्याय ‘हरिऔध’, डा० पीताम्बरदत्त बड़वाल, डा० धीरेन्द्र वर्मा, बाबू रामचन्द्र टंडन, पण्डित केशवप्रसाद मिश्र, बाबू कालिदास कपूर, इत्यादि, इत्यादि ।

कहानी-संग्रह

नीम चमेली

श्रीमती उषादेवी मित्र की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ ।

उषादेवी मित्र

नीम-चमेली

यदि सच पूछो तो पृथ्वी पर चिरस्थायी कुछ भी नहीं है। फिर गर्व किस बात पर करना ! मेरे ही चार हाथ आगे जो कामिनी हरे-हरे पत्ते और सफ़ेद फूलों से लदी, यौवन के मद से तनी खड़ी है, मुझ बूढ़ी नीम-चमेली की ओर देखकर भी नहीं देखती; क्या उसकी नसों में कभी सिकुड़न आवेगी ही नहीं ! क्या उसकी डालें कभी स्थूल होकर भूलेंगी ही नहीं ! अभी कल की छोकरियाँ, मुझसे घृणा करें। आश्चर्य ! आश्चर्य ! कल नहीं तो क्या ? मेरे सामने अभी उस दिन—माली ने इसे और जासौन को लाकर लगाया था, जो इस वर्ष लाल फुसकों से लद गया है और दिन भर कामिनी छोकरी से फुसफुसाया करता है। जानती हूँ भाई, मैं सब कुछ देख-सुन रही हूँ। ये दोनों मेरी और मेरे पुत्र-पुत्री की निन्दा किया करते हैं। उनकी इच्छा है कि मेरे निकट जो मेरी दो सन्तानें खड़ी हैं उन्हें निकालकर अपने परिवारों की वृद्धि करें। कई बार उनसे चेष्टा की, किन्तु हे कुछ न पाया। नहीं-नहीं, उन छोटे चारों को भला मैं क्यों नष्ट करती, उनको तो मुहल्ले की बकरियाँ चबा गईं। रूप, रूप का ऐसा घमण्ड ! मैं बूढ़ी हूँ तो अपने लिए और कुत्सित हूँ तो अपने लिए; इस पर वह हँसनेवाली कौन ! अभी दो दिन तो आये हुए नहीं और करोड़ों बातें बनाने लगी, आज्ञा और आदेश फैलाने लगी। बकरी, गौरैया, चील को देखकर मुँह बनाती, डाल पत्तों से खड़खड़ाकर उन्हें डराती, धमकाती, पवन में किलकारियाँ मार-मार कर कहती—भाग जाओ, वरना छोटे साहब से कह दूँगी !

मुझे खेद के साथ हँसी आती—आज यह छोटे साहब के मुँह लगी है ! वह लम्बा-सा दोहरे बदन का श्रीमान्-युवक ज़रा उनसे प्यार करता

है। उनसे क्यों,—वह शिशु स्वभाव का युवक है ही ऐसा, सबों से वह प्रेम करता है, प्रत्येक वस्तु उसके निकट दया की पात्री है। इस वंश का बस वही तो एक बच्चा है। लोग उसे छोटे साहब कहते हैं। प्रत्यह प्रातः-सन्ध्या वह गुलाब से लेकर मुक्त बूढ़ी तक के निकट एक बार ज़रूर आता है, अपने शीतल, स्नेह-पूर्ण नेत्र से हम सबों का कुशल पूछता है, एक छोटी कैची से वह हमारे शरीर को साफ़ कर देता है, माली के साथ हमारे विषय में घण्टों बातें करता रहता है। और फिर किनारे के द्वार से भीतर के बगीचे में चला जाता है।

इस राज-प्रासाद तुल्य मकान के सामने चारदीवारी से घिरे एक बड़े-से लान में एक और विशाल-काय मैं, मेरे पुत्र-कन्या और जासौन, कामिनी, चम्पा, बस—इतने ही अब अवशिष्ट हैं। वही तो मैं कह रही हूँ—आज यह कामिनी छोटे साहब को पहचानने लगी किन्तु उस दिन ये सब कहाँ थीं जब कि घर के प्रभु आपा साहब ने अपने हाथ से यहाँ पर मुझे लगाया था ? अमर-कीर्ति आपा साहब को इस शहर का कौन नहीं पहचानता ? शहर की बात जाने दो, यह घराना तो दूर देश तक विख्यात है। उनकी मृत्यु को एक युग-सा हो गया किन्तु अभी तक लोग उनके परिवार को वैसे ही आदर-सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। शहर का शिशु भी उनके नाम से श्रद्धा और स्नेह से प्रभावित हो उठता है और बदमाश उस नाम से एक बार कण्टकित हो जाता है। मुझे अधिक आश्चर्य तो इस पर है कि रूप और गुण का वैसा एकत्र समावेश हुआ ही कैसे था ? वैसी सुन्दर आकृति मैंने तो आज तक देखी नहीं। उस पचास वर्ष की अवस्था में भी युवक-से प्रतीत होते। घनी मूँछें और चश्मे के भीतर की उस प्रतिभापूर्ण दृष्टि की तुलना शायद ही हो। दुःखी, आर्त की सेवा में, दान में, सिद्धहस्त। प्रथम श्रेणी के वकील थे; साहसी, वीर और शिकारी, संगीतज्ञ—याने रूप और गुण का उनमें विचित्र समावेश था। वैसे ही रोबीले पुरुष—उनके भय से पुलिस तक काँपती थी। दोपहर में इस पथ से तौंगे छोड़े धीरे-धीरे चलें, पथिक निर्वाक चला जावे। मैं सुनती रहूँ—माता अपने

बच्चे से कहती जाती थी कि—बेटा, चुपचाप चलना, आपा साहब सोते होंगे।

न जाने कितने ही मरे हुए बाघ, चीतों का ढेर मेरे नीचे लग जाया करता और उसे देखने दूर-दूर से लोग आया करते थे। फिर चौथे दिन बैलगाड़ी, मोटर और हाथी पर सामान लादा जाय, मित्र-बन्धु के साथ आपा साहब शिकार के जावें। पहले नम्बर के शिकारी थे। उड़ती चिड़िया का मार गिराते थे।

बड़े-बड़े गवैये उनका नाम सुनकर चले आवें। सन्ध्या समय मेरे ही सामने लान पर दरी और काश्मीरी गालीचे बिछ जावें; चाँदी के हुक्कों में गुलाब-जल भरा जावे और तम्बाकू की मीठी सुगन्ध से पथिक भी लौटकर खड़ा हो जाता था। सोने-चाँदी के गुलाबपाश-इत्रदान के चारों ओर घेरकर पदस्थ व्यक्ति बैठें, ऊँचे मसनद पर तकिए से टिके आपा साहब मुसकराते रहें, प्रसिद्ध संगीतज्ञ तान छेड़ा करें, तबले ठनकते रहें, दास-दासी पान-इलायची बाँटा करें। सबों के अनुरोध से साहब पुकारें—‘शेखजी!’

प्रभुभक्त वृद्ध अरदली मोटी सी लाठी टेककर खड़ा हो जावे—‘जी।’

उस बूढ़े का चेहरा अभी तक मेरे सामने झूला करता है। सफ़ेद अचकन और बड़ी पगड़ी बाँधे वह ‘गेट’ पर बैठा रहता। काम-काज तो वह कुछ न करता था, केवल आगन्तुकों की अभ्यर्थना में लगा रहता था। कामिनी छोकड़ी क्या जाने; किन्तु मैं जानती हूँ, आज उसके बिना यह लोहे का फाटक किस तरह प्राण-हीन हो रहा है। तब इस मकान का सौन्दर्य निराला था। पचासें दास-दासी, घोड़ा, मोटरगाड़ी, मुंशी-अमलों से मकान ही क्या, सारा मुहल्ला भरा रहता था।

प्रातः से ग्यारह बजे तक बैठक और लाइब्रेरी में मनुष्य के मारे साँस तक न रहे। मालिक अपनी लाइब्रेरी में कुरसी पर बैठें और दूसरे कमरे में मुंशी, अमले। वह भी एक दिन था।

फिर प्रभु कहें—सितार ले आओ।

हाथीदाँत के सुन्दर कारुकार्य-खचित सितार शेखजी उनके हाथ में थमा दें। निर्वाक् विस्मय से जनता उस हाथ के माधुर्य को सुनती रहे।

कहती थी ऐसे ही एक व्यक्ति ने आदर-प्रेम से मुझे अपने हाथों लगाया था और उस हृदय के अनुराग के बल पर ही इस बुढ़ापे में भी मैं आकाश छूने की अभिलाषा से ऊँचे-ऊँचे चली जा रही हूँ और ये छोक-रियाँ मेरी हँसी उड़ावें ? इनने देखा क्या ? जानती ही क्या हैं ?

(२)

उन दिनों की याद से मेरी आँखों से आँसू की धारा बह चलती है। मेरे देखते-देखते इस परिवार का कैसा सर्वनाश, कैसा परिवर्तन हो गया ! अभी उस दिन की तो बात है, जब आपा के पिता राय बहादुर जज साहब आपा की शादी कर उस छोटी-सी दुलहिन को ले आये थे। इसी फाटक पर मंगलाचार हुआ था और वह पायल बजाती, लाल साड़ी पहने सास की गोद में चढ़कर भीतर गई थी ! भीतर बड़ा भारी पक्का आँगन है।

इस मकान के प्रत्येक व्यक्ति, कोठरी, दालान और हाल से मैं मली भोंति परिचित हूँ।

देखते-देखते वह छोटी सी वधू बड़ी हो गई।

बालक-बालिका से घर भर उठा। राय बहादुर और उनकी पत्नी चल बसीं। वधू गृहिणी बन बैठी। बहूजी के नाम से अब भी लोग उन्हें पुकारते हैं। अब तो केवल नाम का महत्त्व रह गया है, न वह रूप है, न वह लड़कपन—विराम-हीन खुशी। अवशिष्ट मात्र है, चाँदी से सफ़ेद बाल, जरा-जीर्ण शरीर और शोक-दुःख से दबा, धड़कता हुआ प्राण !

बड़ा लड़का शिशिर—शिशिर ही की तरह सुन्दर, पावन, एक दिव्य स्वास्थ्य-सम्पद् से इन्द्र जैसा इन्द्रासन पर बैठ गया था। उस रूप-यौवन को, कीर्ति को देखकर मैं फूली न समाती।

उस दिन—हाँ—उस दिन भी आज ही की तरह ग्रीष्म की दोपहरी में चील मेरी शाखा पर बैठी चिल्ला रही थी। पथ जन-मानव-शून्य था। मारे प्यास के काक और गौरइया जीभ निकाले हाँफ रहे थे। बकरे मेरे नीचे सूखे दूब और मेरी पत्ती से पेट भर रहे थे, मैं पत्तों की आड़ में दबी ऊँघ रही थी, एक करुण चीत्कार से मेरी तन्द्रा टूट गई। उसी पल में ज्ञात हुआ—मेरे प्रभु, मेरे देवता इस जगत् से चल बसे ! हाँ, आपा साहब का अन्त हो गया !

मैं रोती रह जाती, न जाने कब तक; किन्तु रोने का समय ही कहाँ मिला ! बस, एक महीना कटने पाया था कि मैं गाज की मारी-सी आड़ में हो रही, उस आघात से दो बूँद आँसू भी तो न बहा सकी। चला गया—वह चला गया। दो दिन के लाल बुखार ने उस शूर-वीर, सुन्दर-दर्शन-युवक, जङ्गल के उच्च-पदस्थ कर्मचारी शिशिर को हर लिया।

अरे, मैं उसे भूलूँ कैसे ! खाकी सूट पहने, घोड़े पर अकड़ा बैठा अभी उस दिन तो वह मेरे नीचे आकर खड़ा हो गया था।

फिर छः महीने न कटने पाये, आपा की तीन लड़कियों में से एक चल बसी, छोटी विधवा होकर दो छोटी-छोटी लड़कियों के हाथ थामे इस घर में आकर मौजूद हो गई। अरे, मैं शो भी तो नहीं पाती ! आँसू ! नहीं, वह सूख चुका है, उसे तो शिशिर हर ले गया।

अब केवल इने-गिने कई प्राणी इस परिवार में अवशिष्ट हैं, बूढ़ी बहूजी, विधवा बेटी और उसकी दो बालिकाएँ लोकमती और ममता ! छोटे साहब, कोई उसे दत्त साहब भी कहता है, और सबसे बड़ी बेटी 'नोनी' ससुराल में है, कभी आ जाती है। दास-दासी भी गिने हुए हैं।

मानो आरव्य उपन्यास के माया की लाठी थी, जो रातों-रात उस वैभव, ऐश्वर्य को पातालपुर के अँधेरे कुण्ड में समेट ले गई और उड़न-खटोला में बैठाकर इस परिवार के प्राणों को इन्द्र-सभा में ले भागी।

ज़रा पूछो तो इनसे, आज जो ये ऐसी स्पर्द्धा से बातें करती हैं, यहाँ का ये जानती भी हैं कुछ ! छोटे साहब, छोटे साहब, बस इतना ही

इन सबों की पहचान है इस युवक छोटे साहब से । किन्तु उस गेंद-सा मोटा-ताज़ा, फुदकता, दौड़ता, बालक छोटा साहब से ये परिचित हैं भी !

नहीं । तब इसके सिर के बाल ऐसे पतले नहीं थे और न सिर गँछा था । तब तो घने बाल थे, गोल मुँह, मोटे हाथ-पैर । लान में खेलता फिरता, कभी नौकर को घोड़ा बनाकर उसकी पीठ पर चढ़ बैठता, कभी पतङ्ग उड़ाता, हाकी-फुटबॉल खेलता, मेरी डालों को तोड़कर बकरी के पीछे दौड़ पड़ता ।

मैं तो सदा सशङ्कित रहती—पुकारकर कहती—अरे भैया, घोड़े-ताँगे के पीछे न दौड़, दब जायेगा, परन्तु सुनता कौन ! अभी—अभी यह सँभला है । दत्त साहब, दत्त साहब, मुझे तो चिढ़ आ जाती है !

(३)

बस, दुनिया में यदि आदर है तो रूप और वैभव का । गुण की ओर कोई फिरकर नहीं देखता । सब कुछ मैं चुपचाप देखती और सहती रहती हूँ ।

वसन्त के नीरव-एकान्त में बग़ल के बगीचे से चमेली, जूही, गुलाब, अपराजिता, हिना आदि चपल युवतियाँ उस द्वार से होती हुई मेरे तले इकट्ठी हो जाती हैं, पुष्प आभरण से उनके तन ढके रहते हैं हरे लहंगों पर हज़ारों मधुमक्खियाँ, भौंरे गुनगुनाते रहते हैं, कानों पर तितलियाँ काँपा करती हैं; किन्तु मुझ बूढ़ी की ओर न कभी भौंरे लौटकर देखते और न मधुमक्खी । मज़ा तो यह है कि मेरी डालों पर वे बैठी भूलतीं, वसन्त गातीं और कामिनी, जासौन भी अपने भुमके लटकाती आकर जुट जातीं और मेरी अवहेलना करतीं ।

वही तो कहती हूँ—गुण, धीरज, सहनशीलता का आदर कोई नहीं करता । मेरी पत्ती से कितने जीव पलते हैं, मेरे कोटरों में कितने ही पक्षी-शावक काक के घ्रास से बच जाते हैं, चील घोंसले बनाती है । ग्रीष्म के उग्र वायु को शीतल कर मैं रात की नसों में नींद भर देती हूँ,

वर्षा-ऋतु में असंख्य सादे फूल मेरी नसों में जल उठते हैं. लान की हरियाली पर सफ़ेद चादर-से वे बिछ जाते हैं, मुहल्ले की लड़कियाँ उन्हें बीन ले जातीं, घर की युवती उनसे हार-गजरे बनाती हैं । तभी तो मेरे गुणग्राही-सम्राट्, मेरे पिता, मेरे पुत्र, मेरे सर्वस्व-आपा साहब ने अपने हाथ से मेरी प्रतिष्ठा की थी । यह हँसमुखी, कौतुक-प्रिय युवतियाँ क्या समझें ?

पूणिमा की गहरी रात में यह सब-की-सब स्थान पर जुट जाती हैं.— गुलाब की पँखड़ी से गुलाब-परी, जूही से श्वेत परी, गेंदा से पीत, अपराजिता से श्याम-परी, बेला से गम्भीर-परी और चमेली से चञ्चल-परी आदि कितनी ही विचित्र लाल, पीली, हरी परी और इन्द्र-सभा के कितने ही कन्दर्प, देवकुमार चाँदनी के समुद्र में बहते, वायु-यान पर बैठे यहाँ, मेरे नीचे आकर एकत्रित हो जाते हैं । चम्पा का चम्पक-कुँआर भी निकल आता है और फिर रंग, कौतुक, एक अलहड़पन, प्यार-प्रेम की बाढ़-सी आ जाती है !

उस मिलन-मेला को देखकर भींगुर खँजड़ी बजाता है, विरह-विधुरा निशा-सुन्दरी दीर्घश्वास लेती है, और मैं नौद-भरे नेत्र से उस दृश्य को देखती रहती हूँ । वह सब अहंकार में पिसकर मुझे देखकर भी नहीं देखती हैं । अरे, था-था, मेरा भी एक दिन पार्थक्यहीन, श्रावण-नदी-सा छलछलाता यौवन था ! कभी मैं भी बार-बार अपने अङ्ग को निहारती रहती, अपने ही श्वास में सुगन्ध पाती, अनमनी-सी अपने हरे गात्राभरण को चुटकी से नोचती, चील-काक को दुतकार देती और अश्वत्थ, नीम के युवराजों से चाँदनी में होली खेलती थी—इसी लान पर । कभी चाँदनी को पत्तों की आड़ में छिपा लेती, तब मणि-द्वारा फणी-सा चाँद अपनी शक्ति को दृढ़ता फिरता, बादल के नीचे सिर पीटता, बावला-सा आकाश को मथ डालता था. कौतुक देखकर मैं खिलखिला पड़ती थी, दूब की छोटी रूप-कुमारी मुझे घेर लेती, चाँद हाथ जोड़ता, मुझे दया आ जाती, पत्तों की आवेष्टनी शिथिल हो जाती, और तब पल भर में चाँद पृथ्वी को रजत-शुभ्र कर देता था !

और आज, आज ही तो उन दिनों का दीर्घश्वास केवल मेरे लिए बचा है। किन्तु नहीं, मैं जो थी, जो हूँ, वही रहूँगी। इन छोकरियों के हँसने से होता ही क्या है ! मुझे वे पा कैसे सकती हैं ?

लान और इस परिवार की कौन कहे, इस मुहल्ले की कितनी ही सुख-दुःख की कहानियाँ मेरी नसों में मानों लिखी हुई हैं।

कितने परिचितों से मेरी भेंट हो जाती है, उनकी भी अब मेरी तरह मुँह की नसें सिकुड़ चुकी हैं, शरीर मेरे ही तरह एबड़-खेबड़ हो रहे हैं, किन्तु फिर भी मैं उन्हें पहचान लेती हूँ, हर्ष की ध्वनि से मेरे पत्ते काँप उठते हैं, तरल कंठ से उनसे कुशल पूछ लेती हूँ। पथ चलते-चलते वे मेरी तरफ़ एक बार देख अवश्य लेते हैं, किन्तु उत्तर कुछ नहीं देते। कौन जाने मेरी पुकार उन तक पहुँचती भी है या नहीं।

(४)

लोहे के बृहत् फाटक पर मङ्गल-घट, आम्र-पल्लव फिर से बाँधे गये—बहुत दिन के बाद। और सहनाई भी बजने लग गई थी। अभ्यागत, आमन्त्रित से मकान भर उठा था। मेरा भी बूढ़ा मन उस खुशी से मचल-सा पड़ा। पता चला, लोकमती की शादी है। लोकमती, वही नन्हीं रूप-रानी, सुन्दरी-श्रेष्ठ, ज़रा-सी लोकमती का विवाह ! मैं विस्मय से निर्वाक रही।

अरे अभी उस दिन तो वह किताब बग़ल में दबाये, फ़ाक पहने लारी पर बैठकर स्कूल जाया करती थी न ? और पाँच बजे के पहले नातिन की प्रतीक्षा में बहूजी ऊपर की खिड़की में घण्टों खड़ी रहा करती थीं न ? वह फूल-कुमारी-सी कोमल लता लारी से उतर कर ऊपर देखे और मुसकराकर पड़े, नौकर किताब के लिए दौड़े, फिर वह जल्दी-जल्दी सीढ़ियों को तय करती ऊपर चढ़ जावे और नानी के गले से लिपटे। बहूजी उसके कपड़े बदलें, नहलावेँ और कहानो कह-कह कर उसे अपने हाथ से भोजन करावेँ, घर-का-घर से जावे, किन्तु बालिका नानी के गले से लगी मचलती रहे—‘कहानी कहो।’

फिर अभी-अभी वह विवाह योग्य हो कैसे गयी ! मैंने भौंककर देखा—हीरे, मोती के ज़ेवर पहने, घूँघट काढ़े लोकमती बैठी थी । अरे-सच ही तो, यह बड़ी कैसे हो गई ! और दिन-रात की देखनेवाली मुझे ही पता नहीं !

विस्मय—विस्मय, उस नन्हें से मुख पर तो अब रूप ही न समाता था ।

तो वह गई किस भाग्यवान् के घर ?

आनन्द का ठिकाना न रहा जब मैंने सुना कि दूसरे शहर के एक विख्यात धनवान् से वह ब्याही गई है ।

एक दिन वह पति के साथ रोती, आँसू बहाती चली गई । दामाद देग्वकर मुझे बड़ी खुशी हुई—राजकुँवर-सा चेहरा था । मैं जी खोलकर उन दोनों को आशीष देती रही ।

वर्षा का आरम्भ नहीं मध्य था । बगीचे से सभी फूलों की परियाँ लान पर निकल आई थीं । और बूँदों के पालने पर बैठकर आकाश के देवकुमार भी । धूम मची थी—धूम ! वर्षा की बताशे जैसी बूँदों में कूद कूदकर वे सब स्नान कर रही थीं और देवकुमार उन पर अपने हाथ की चलनी से पानी चाल रहे थे । मेरा हृदय भी मचल पड़ा । अश्वत्थ का जटाधारी बूढ़ा राजा भी आन पहुँचा, अधिक दूर तो था नहीं, इस अट्टालिका के उस पार मालिक के अस्तबल के प्रशस्त आँगन में वह ऊँचे सिर से खड़ा रहता था, हम एक दूसरे को दिन रात देखा करते हैं—अभी भी । उस दिन लाठी टेकता वह आ ही तो गया, शायद उसके मन में भी वर्षा कौन जाने—तो मैंने भी अपनी मोटी साड़ी सँभाल ली और उसके बगल में जाकर खड़ी हो गई । मैं भी उन युवक-युवती की तरह तरल गति में वर्षा की बूँदों में अठखेलियाँ करना चाहती थी, उन्हें दिखलाना चाहती थी—मरी नहीं मैं अभी जीवित हूँ ! किन्तु चेष्टा करने पर भी मैं दौड़ न सकी, कदाचित् मेरी नसें शिथिल पड़ गई हों, शरीर स्थूल हो गया हो । मैं और अश्वत्थ गिरने से बचे । बस लगी सबकी सब ताली बजाकर हँसने और उस दिन की वह नई-नवेली कामिनी

लगी चुटकी बजा-बजाकर गाने। नहीं, उसकी ऐसी धृष्टता मुझे देखी नहीं जाती।

एक चाँदनी रात में मैं अश्वत्थ पर बैठी राजा को देख रही थी— और वे मुझे। मेरे सामने, नीचे वैसी ही धूम मची थी, फूल-परियाँ खेल रही थीं। मैं तो विरक्त हो गई। नित्य इनकी वाचालता को कैसे देखूँ, कैसे सहँ ?

उस दिन वह साथ लाई थी नूतन सखी सूरजमुखी को। हँस हँस-कर, व्यङ्ग-परिहास से मुझे दिखाकर वह सूरजमुखी से कुछ कहने लगीं। क्रोध से मैं काँप उठी, केवल निन्दा, केवल अवहेलना !

अपनी डाल-पत्तियों से ऐसा झपेटा दिया कि वे सब-की सब इधर-उधर जा गिरीं—कोई सिर के बल, कोई मुँह के। अब हँसने की बारी मेरी थी। किन्तु नहीं, मैं गम्भीर हो रही। वह तो उन्हें ज़रा शक्ता देनी थी।

अरे दुनिया में कुछ अविनाशी नहीं है। यह गर्व, ऐसा पक्षपात फिर किस लिए ? चाँद की उज्ज्वल प्रभा से लजाकर करोड़ों जुगनू जो मेरे पत्तों में दबे, छिपे बैठे थे, वे मेरी-प्रशंसा से मुखरित हो उठे। कहने लगे—नीम-चमेली जी, आपने अच्छी शिक्षा दी। उन प्रगल्भ, अहङ्कारियों का यही उचित दण्ड है।

मैं चुप रही। व्यथित, भुक्तभोगी ही उस हृदय की पीड़ा को समझ सकता है, दूसरे भला क्या समझें ?

चाँद की शुभ्र, मुक्त-चाँदनी की प्रशंसा में पृथ्वी आतुर है। कवि की लेखनी उसी की स्तब्ध-स्तुति से मूर्त होती है, शिल्पी की तूलिका उसकी जयश्री से उज्ज्वल होती रहती है, भावुक की भावुकता वहाँ अनन्त शक्ति पर बैठती है। विश्व उसके जयगान में ही अपने को धन्य समझता है; किन्तु अपने घर में उस ओस की बूँद से शुभ-शीतल, पावन, छोटे से दीप को देखकर भी नहीं देखता। कैसा अन्याय, कैसा अविचार है !

मैं छोटे जुगनू को धीरज दूँ कैसे ?

मैं धीरे बोली—गुनगुनाकर—भाई मेरे. तुम सब मेरे हृदय पर बैठकर करोड़ों दीप जलाया करो। पृथ्वी तुम्हारा आदर न करे—न सही, किन्तु मैं बूढ़ी तुम्हारा स्वागत जीवन भर करती रहूँगी, मेरे पते, नसें तुम्हारे स्पर्श से धन्य होती रहेंगी।

(५)

उस दिन प्रातःकाल शिशु-कंठ की हँसी से मैं सोते से जगी। विस्मय ! छोटे साहब की गोद में यह स्वर्ग की सुपमा कहाँ से आ गई !

कुमार ! कुमार ! राजकुमार, देवशिशु ! मैं उसे कैसे, कौन से नाम से पुकारूँ ! सोने के पहाड़ों को पार करता, बीस हजार चन्दन-वन के इस पार यह देव-बालक आ ही कैसे गया !

माघ के प्रातःकाल रजत-शुभ्र मुहूर्त में छोटे साहब एक राजकुमार को गोद में लेकर मेरे नीचे टहल रहे थे।

लोकमती का पुत्र ! क्या सच ! उस ज़रा-सी गुड़िया का पुत्र ! ऐसा सुन्दर, ऐसा भोला !

मैंने अपनी सहस्र बाहें बढ़ा दीं। एक बार, केवल एक बार उस राजकुँवर को गोद में लेना चाहती थी, उसे हृदय में लगाकर उन रूप-गर्विता तरुणियों को दिखलाना चाहती थी—उनका रूप इस शिशु के निकट कितना तुच्छ है। मैं दबी आँखों देखने लगी—सब फूल-परियाँ लुक-छिपकर उसे देख रही थीं। चलो इस अ-बेला में इतना भी बहुत है।

शिशु मेरी ओर देखकर खिलखिला पड़ा, छोटे साहब के गले से लिपट गया।

‘आओ भैया’—मैंने पुकारा।

वह स्वर्ग दीप का कुँवर एक काक को दिखाकर छोटे साहब से कहने लगा—ओ—ओ !

मैंने पूर्णशक्ति, कोमल स्वर से फिर पुकारा—‘भैया आया !’

‘एक बार आ तो बबुआ !’

वह हँसने लगा ।

दुःख, खेद से मैं स्तब्ध हो रही । यदि एक बार, केवल पल-भर के लिए मैं उस भाषा को पा जाती, जो कि मनुष्य समझ सकता है, तो मैं अपना सब कुछ लुटा देती !

केवल एक पल के लिए पा जाती, अणु-परिमित छोटे पल के लिए !

मन्दिर का देवता

यदि सूर्य का प्रकाश रजनी के भुजपाश में बँधकर निश्चिह्न निद्रा में लुट जा सकता है, तो विश्व-देहरी का तन्द्राच्छन्न हो जाना भी स्वाभाविक ही है । और, गृहस्वामी की पलकों में नींद का भर उठना ? वह भी क्यों असम्भव है ?

उस नीरव निशा को अपने मन और प्राणों में भरे हुए निशीथ उस उच्च अट्टालिका पर धीरे-धीरे चढ़ता चला आ रहा था ।

नीरवता में आतंक की भाँति कोई पक्षी किसी नीड़ में कराह उठा; किसी कुटिया के किसी कोने से छींक हुई; सहसा निशीथ के द्रुतगामी पैर रुक गये । संभवतः हृदय के किसी कोने में छींक की प्रतिक्रिया की हलकी-सी छाया—अस्पष्टतर रूप से—पड़ गई । जैसे एक हठी बालक आँधी-तूफान की उपेक्षा करता हुआ आम्रवृक्ष पर चढ़ रहा हो; और उसके कानों में कदलीकदंब में भुण्ड बाँधकर बैठी हुई बालिकाओं में से किसी की छींक की आवाज़ पहुँच गई हो, इस निषेधाज्ञा के साथ—‘उतरो. उतरो; छींक हो रही है; क्यों व्यर्थ जान देने को चढ़ रहे हो ।’ और उस वृक्षारोही ने कह दिया हो, ‘चुप ।’

“कैसा गँवार है ! है कौन यह ?”

“हरदेव जी का उजड़ु भानजा ।”

और एक धम के शब्द के साथ वह बालक गिर पड़ा हो और उसके कानों में पड़ी हो बालिकाओं की टोली से बम के गोले की भाँति छूटी

हुई हँसी की आवाज़ ! सचमुच उसे उस समय सेवारत बालिका के करुण नेत्रों की सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि भी व्यंग की मुसकान ही प्रतीत होती होगी ।

चाहे वह कैसा भी रहा हो, परन्तु वह छींक उसे रोक सकी केवल पलभर के लिए । उस महान् प्रयोजन के आगे छींक का महत्त्व टिकता भी कब तक और कैसे ?

प्रयोजन ? हाँ, मनुष्य का प्रयोजन, अभाव का प्रयोजन, अभाव की पूर्ति, निशीथ का प्रयोजन । बस, निशीथ इतना ही जानता था । अतः उसे और अधिक उस समय कोई रोक भी नहीं सकता था ।

अभ्यस्त रीति, गति, उद्यम से वह दीवार, खिड़की आदि से चढ़ता हुआ ऊपर तक पहुँच गया । चारों ओर नीरव एकाकीपन था । उस स्तब्ध नीरवता ने जैसे उसके मन की खुशी को गुलाब की लाली से भर दिया हो ।

उस पुर के स्तब्ध स्पन्दन को उसने श्वास रुद्ध कर देखा-सुना— फिर दबे पैर आगे बढ़ा । अन्धकार—चारों ओर गाढ़ अन्धकार था । सबकी उपेक्षा कर वह आगे बढ़ चला । उसने द्वार के छिद्र से दीपक के क्षीण प्रकाश को देखा—एक आशाहत की भाँति ।

उस रुद्ध रोदन की सिक्त सिसकियाँ उसके सतर्क कानों से छिपी न रह सकीं । वह एक कौतुक—आग्रह से उस अरण्य-आलोक-सञ्चारित गृह के द्वार पर खड़ा हो गया ।

अन्दर के दृश्य ने उसके उच्छृङ्खल चित्त को जैसे एक ही धक्के से मानवता में ढकेल दिया । सुवर्णसिंहासन पर चन्दन-चर्चित स्वर्ण-काय गोपालमूर्ति विराज रही थी । धूप-दीप, नैवेद्य, चन्दन आदि चारों ओर बिखरे थे । मूर्ति के सामने हाथ में खड्ग लिये खड़ी थी अपने प्राण देती हुई एक स्वर्णकान्ति युवती—“दो गोपाल, मेरा सुहाग मुझे दे दो । भिक्षा दो मुझे सुहाग की ! नहीं दोगे ? तीन दिन से तेरे दरवाज़े धरना दिये पड़ी हूँ । यह पेट का बच्चा । इस पर भी दया नहीं आती तुम्हें ? तीन दिन हो गये । तो भी नहीं ? तो लो कपटी, हम दोनों का प्राण ही ले लो ।”

निशीथ के पैरों में विद्युत् की गति उस पल में समा रही थी। वह भीतर पहुँच गया। सबल हाथों से नारी के हाथ से खड्ग छीन लिया, एक दृढ़ हास्य से वह कह उठा—“उस सोने के पिण्ड में वैसी शक्ति कहाँ जो तुझे वरदान दे ? तेरे सुहाग को मनुष्य की शक्ति ही बचा सकती है, विश्वास कर बहन।”

वह उन्मादिनी नारी शायद कुछ समझी, शायद न समझी। अर्द्ध-रात्रि में उस व्यक्ति की तस्करवृत्ति की कदर्थता की ओर उसके व्याकुल हृदय की चिन्ताधारा भूलकर भी न भटकी। अटल विश्वास से वह उसके पैरों से लिपट गई—“मुझे सुहाग-भीख दो देवता।”

“ठहरो, उठो, समझो—किसे क्या कह रही हो ?”

“छल-कपट मत करो गोपाल—”

“उठो, पैर छोड़ो। देवता में कुछ देने-लेने की शक्ति नहीं है—”

“चाहे देवता हो या राजस, माँगती हूँ मैं अपनी अपने ही सुहाग की भीख तुमसे।”

“अच्छी बात है। दानव समझो मुझ। मैं चोर हूँ। आज तुम्हारे ही घर चोरी करने आया था।”

“चोर ?” नारी सिहरी, उठकर खड़ी हो गई। एक ने दूसरे को देखा। निशीथ की सिकुड़ी भौहें जैसे अतीत के गर्भ से कुछ ढूँढ़कर निकालने की चेष्टा करने लगी। और खोज के प्रथम पल में ही वह कह उठा—“गायत्री।”

“हरदेव का उच्छृङ्खल, शराबी भानजा।” गायत्री जैसे अपने-आप कह उठी।

निशीथ उल्लसित हँसी से उस कलंक-रेखा को धोता हुआ कहने लगा—“वही, अब इतनी देर में पहचाना तुमने, समझी न ? देवता समझकर अब तक जिसके पैर पकड़े भीख माँग रही थी वह वास्तव में है कौन ?”

गायत्री एक बार आतंक से सिहरी अवश्य, और फिर भी नासमझ की तरह कह उठी—“चाहे कोई भी हो, अभी तुम मुझे सुहाग की भीख दे चुके हो।”

“अच्छी बात है । मुझे सन्तोष है कि तुमने कल्पित देवता के मोह में फँसी न रहकर आदमी की शक्ति पर विश्वास किया ।”

एक आश्वासित विस्मय से गायत्री उसे देखने लगी ।

निशीथ बोला—“यदि तुम एक चोर पर, एक बदमाश पर विश्वास कर सको, तो अपनी विपद्-वार्ता को, अकपट कह सुनाओ । कहाँ उलझ रही है तुम्हारी सुहाग की डिबिया ?”

“तुम चोर हो चाहे बदमाश, चाहे कुछ भी हो ! तुम्हारे नाम से यदि शहर में आतङ्क फैल जाता है तो फैल जाया करे; तुम्हें जालसाज़, खूनी, जुआरी कहकर यदि पुलिस तुम्हारे पीछे भटकती फिरती हो तो फिरा करे, किन्तु फिर भी तुम—तुम हो; चाहे देवता हो, या आदमी, या तुम—” गायत्री चुप हो रही ।

व्यथित हँसी के साथ निशीथ कह उठा—“चाहे राज्स !”

वह लजाकर बोली—“चाहे कुछ भी हो, वह हो अपने-आपके लिए, मेरे लिए तो हो वरदाता ।”

“अच्छी बात है ! अब यह बताओ कि सुहाग तुम्हारा विश्व के कौन अन्धकूप में पिछड़ पड़ा है ?”

“मेरे पति जेल में पड़े हैं । उन्हें परसों ले गये थे—सो भी मेरे ही आँखों के सामने, अपने घरे में जकड़कर ।”

“समझा । अपराध ?”

“खून ?” उस शब्द को कहते वक्त गायत्री का स्वर जैसे ग्लानि और लज्जा से दब-सा गया । फिर आँख उठाकर बोली—“भूठ—बिलकुल भूठ । उन जैसा देवतुल्य व्यक्ति एक नीच वेश्या का खून कर भी सकता है ! भूठ ।”

“वेश्या ? किस वेश्या का खून हुआ ?”

“वही चन्द्रमुखी ।”

“वेश्या नहीं, बाईजी कहो ।” तब जैसे आत्मगत भाव से निशीथ कह चला—“अभी लड़की ही थी, वेश्या का पेशा नहीं करती थी ।

ग़ज़ब की ख़ूबसूरत थी वह छोकरी ! मज़े में गाती थी । उस दिन भी सेठजी के नाती की पसनी में उसका गाना था । हँस-हँसकर मेरी बातों का जवाब दे रही थी । मारी गई वह ? इस कम उम्र में ! अच्छी छोकरी थी ।”

“फिर तुमने भी उन्हें ही ख़ूनी समझ लिया न !”

प्रश्न सुनकर निशीथ चौंका—“मैं ? मेरा सोचना ! परन्तु किसी के बारे में कुछ सोच लेना, क्या इतना ही सहज है, गायत्री ? हमारा बाहरी परिचय ही क्या सब कुछ है ? और अन्दर क्या ? कौन किस लिए, कब और क्या करता है, कर सकता है—इसे भी हम कभी विचारने की कोशिश करते हैं ? करें भी कैसे ? क्यों ? क्योंकि वह हमारी शक्ति से बाहर की बात है । कभी एक छोटा अन्याय, एक साधारण अपराध, छोटा प्रयोजन, छोटा अभाव बड़ों की सृष्टि करता ही चला जाता है । क्यों, किस लिए और किस परिस्थिति में कभी आदमी क्या से क्या कर सकता है, क्या से क्या हो सकता है ? शायद बात यह विचार से बाहर है ।—हाँ, तो —” । सहसा निशीथ चुप रह गया । हलकी मुसकान उसके ओठों पर लिपट रही—“यही देखो न ! आया था यहाँ चोरी करने, और कर रहा हूँ, कह रहा हूँ और ही कुछ ।”

गायत्री अवाक्-निश्चलता से उसकी प्रत्येक बात को सुन नहीं रही थी, वरन् निगल-सी रही थी; अब तक उसी तन्मयता में उसके मन में विचार उठा और उसी भावावेश में उसे लगा मानो इस सामने खड़े मनुष्य के रूप, यौवन, सदाचार आदि को एक व्यथित आह निगल बैठी हो और उस आह का मर्दित रूप रह गया है । और—और कदाचित् आह में देव मानव की मनोवृत्तियों की आह से उन्हें दबा, धमकाकर, उनके गले दाब-दाबकर वह आसुरिक प्रवृत्ति जाग उठी हो ।

“सुन रही हो न गायत्री, आया था मैं चोरी करने चोर बनकर ।”

“क्या चुराते ?” वैसी ही दबी हँसी से पूछा गायत्री ने ।”

“ज़ेवर, रुपये, जो भी समेट पाता ।”

“और अब ?”

“ अब समय कहाँ है ? सबेरा होना चाहता है ।”

“लो ।”

गायत्री को अलंकार खोलते देखकर वह कौतुक से हँसा; फिर वैसे ही आमोद में बोला—“अब इस वक्त इन्हें लेकर करूँगा भी क्या ? वक्त है कहाँ ?”

“वक्त ! कुल चार ही तो बजे हैं ! कोई न देख पायेगा ।”

“वरदान की बेला टल जो जायगी गायत्री ।”

गायत्री जैसे सोते से जागी । उसने वस्तु-जगत् में लौटकर एक गम्भीर क्षण अपने हृदय में पाया । असह्य पीड़ा, जलन और उन सबमें ओत-प्रोत जाग उठी वह सुप्तप्राय उन्मादिनी—“मेरी सुहाग-भीख दो, भैया ।”

“उठो, सुहाग तुम्हारा लेनेवाला है भी कौन ? अच्छा तो बिदा ।”

“बिदा ?”

“घबराओ नहीं; अविश्वास कैसा ?”

“एक बात ।”

“कहो ।”

एक अविश्वास से गायत्री ने उसे देखा —“तुम बचा सकोगे उन्हें ?”

“शायद । क्योंकि मैं पत्थर का शिव नहीं हूँ । मैं हूँ आदमी—
या राजस ।”

“तो बचाओगे कैसे ?”

निशीथ हँस पड़ा—“क्या करोगी सुनकर ?”

“कुछ भी नहीं सुन सकती ?”

“लाभ नहीं । अच्छा तो ।”

“फिर कब भेंट होगी ?”

निशीथ का संयत स्वर सुन पड़ा—“शायद कभी हो । और तुम ?”

“मैं ? मैं, सो क्या ?”

“तुम ? तुम ही, यदि कभी जी चाहे तो वरदाता की याद कर लेना ।”

“वरदाता को याद करूँ, क्या यह भी कोई कहने की बात है ।”
जैसे उसके स्वर में स्वर मिलाकर गायत्री कह उठी ।

वह एक रंगीन किन्तु पूर्णता में भरी गम्भीर हँसी हँसा—“वरदाता नहीं, खूनी को ।”

“खूनी ?” गायत्री सिहर कर पीछे हट गई ।

“बाईजी का खूनी, उस अप्सरा का हत्यारा ।”

गायत्री एक आहत व्यथा से चीत्कार कर उठी—“नहीं, नहीं; ऐसा सुहाग मुझे न चाहिए । इस हत्या से रँगा सुहाग, एक का सुहाग छीनकर दूसरे का सुहाग—ऐसा सुहाग मुझे न चाहिए । नहीं ही चाहती मैं उस कलंकित काले सुहाग को ।”

उदार हँसी के साथ निशीथ कहने लगा—“तुम्हारा चाहना ही क्या सब कुछ है गायत्री ? नहीं । लेने से इनकार करती हो ? किन्तु देने-वाले की भी तो कोई इच्छा रहती है न, बल भी तो रहता है उस इच्छा में । देनेवाला देकर सन्तुष्ट रहता है । लेना या फेंक देना—जैसी इच्छा हो तुम्हारी । वह तो देकर सुखी होता है । लौटकर देखने की भी ज़रूरत क्या है उसे ? वक्तू भी अब बच कहाँ रहा है, गायत्री ?”

“असम्भव है । कुछ नहीं चाहती मैं । जाओ—चले जाओ तुम । यदि वह अपराध है तो रहने दो, किन्तु उसे हत्या-रंजित राक्षसी रूप मत दो । जाओ, जाओ, मैं कुछ नहीं चाहती ।” हाथों से मुँह ढाँककर गायत्री रो पड़ी ।

“यह रोना कैसा ? हानि ही क्या है, गायत्री ? यदि आज चोर, जुआरी, गँजेड़ी, सराबी और शायद खूनी भी, यदि दुनिया के सामने, वह फाँसी की रस्ती—जिसे कि संसार उसके गले में डालने के लिए आतुर हो रहा है, उसके गले में पड़ ही जावे, तो हानि क्या है ? अच्छा, अब बिदा ! देनेवाला वरदान दे चुका, लेना न लेना तुम्हारा काम है ।”

अनुत्तम, विस्फारित नेत्रों को पसारकर जब गायत्री कुछ कहने को हुई तब कमरे में वही अकेली थी ।

×

×

×

उस ग्रीष्म-तप्त दोपहरी की बेला में समुद्र-जल में जैसे अवीर की रंगत समा रही थी, लोहिताभ सूर्य-किरणों के तीक्ष्ण दाह से धरती जल-सी रही थी, पेड़-पौधे झुलसकर म्रियमाण हो रहे थे ।

बन्दर पर कोलाहल-मुखरित जहाज़ खड़ा था । अण्डमन-द्वीप निर्वासितों की आँखों में रक्त-सी ललामी थी, और थे आत्मीय बन्धुओं के बिदाई के अश्रु । इन सबके झमेले में उपज रहा था एक विचित्र रस, अनोखा वातावरण । उसी वातावरण में उपस्थित कराया गया हास्यमुख निशीथ को, जैसे उस वातावरण का उपहास करता हुआ—निशीथ, बन्दी निशीथ, खूनी निशीथ, चन्द्रमुखी का हत्यारा निशीथ, आजीवन के लिए अण्डमन-द्वीप में निर्वासन का दण्ड-प्राप्त निशीथ !

सब यात्री जहाज़ पर बैठ चुके थे । निशीथ रेलिंग से झुका जल के तलहटे में जैसे कुछ देख रहा था । उसी समय दौड़ती, हाँफती गायत्री पहुँच गई और बोली—“फिर भी देर लग गई मुझे ।”

एक उच्छृङ्खल हँसी से कह उठा निशीथ—“पहुँच गई तुम ?”

चकित गायत्री ने मुँह उठाया—उस वरदाता के कंठ में आज वह इस मदिरा के नशे को क्यों पा रही है ?

जहाज़ छोड़ने की अन्तिम सीटी बज उठी । गायत्री का स्वर विनीत आग्रह से ध्वनित हुआ—“अन्तिम अनुरोध भाई, विश्व के परिचय-पत्र में अपना भी एक महत्त्वपूर्ण परिचय रख जाने की चेष्टा आगे भी करना । सचमुच तुम देवता हो ।”

“कह नहीं सकता ! उस एक दिन मन्दिर का देवता बोल उठा था, फिर भी कभी जागेगा, बोलेंगा या नहीं, सो तो वही जाने । मन्दिर का देवता—”

यात्रियों के कानों में कोलाहल-मुखरित वायु-कम्पन भर उठा, निशीथ का अन्तिम वाक्य उस कोलाहल में डूब गया। गायत्री ने मुँह उठाया, जहाज़ तब दूर निकल चुका था।

गहरी नदिया नाव पुरानी

(१)

स्वप्निल आकाश-तले कोहरे की चादर ओढ़े पृथ्वी दबी हुई बैठी थी—शान्त बालिका जैसी—निशिदिन की भोंति।

‘सखी ताल’ के सिरहाने आमों के जत्थों में जीवन खिलखिला पड़ा—‘जागे सखी’, ‘पिउ कहाँ’, ‘प्यास प्यास’, रूप-रस-गन्ध के विचित्र समावेश, प्रकृति के वे श्रेष्ठ वरदान, उन पक्षियों ने गीत की वर्षा सी लगा दी—जैसे अपने सुरीले गान से अभिनन्दित करते हों शायद पृथ्वी-आकाश को, शायद प्रकृति की नवीनता को, कदाचित् दुर्गावती की सखियों की स्मृति को।

आमों के पत्तों में खलबली मच गई—खुशी की हरियाली से। गौरइयाँ सीताफलों की डाली पर चहचहाने लगीं—शायद पृथ्वी-आकाश को एकाकार करना चाहती हों। मेर सीताफल ले भागा, बुलबुल अपने सुरीले स्वर को भूल बैठी—कुछ देर के लिए।

‘प्यासी हूँ—प्यासी हूँ’ काले छोटे, बड़े पत्थरों की आड़ से पपीहरा का दर्दीला स्वर गूँजने लगा। कौन जाने कौन सी वह गम्भीर व्यथाभरी अमर स्मृति इस मतवाली खुशी में भी उसके छोटे से हृदय को दुःख की शिखा से जला रही थी। शायद गढ़ा मंडला की रानी दुर्गावती की सखियों की अविनाशी आत्मा की याद हो।

क्षण भर में वह आनन्द की झड़ी सहम-सी गई। हज़ारों नीरव, मिलित दीर्घ श्वास फैल-से गये—सखीताल के जल में, हर एक बालूकण

में। जल स्तम्भित-सा हुआ पल भर के लिए। पायज़ेबों की सी सीटी भुन्नभुनाहट भाड़ी-भुरमुटों में मिल सी गई। आमों की ढालों से दबी हुई उस टूटी भोपड़ी में सन्ध्या की नौद गहरी हो गई।

“सन्ध्या-सन्ध्या, उठो बेटी”—उसकी दादी ने कुटिया के बाहर से पुकारा। कुटी के बाहर बैठी वह छोटे से सरौते से सिँघाड़े काट-काटकर टेकनी में रख रही थी।

सन्ध्या बेसुध-सी पड़ी ही रही। कुटिया के भीतर तब भी—निशा की गहरी अँधियारी छाई हुई थी। “उठो बेटी, सबेरा हो चुका है।”

इस बार वह बाहर आकर खड़ी हुई। प्रकृति ने अपने चिरनूतन समुद्र में उसे नहला दिया। आलस्य, जड़ता जाती रही। उसने कौतुक-भरी दृष्टि फेरी। सबेरे का वह अभिनव प्रकाश आम और सीता-फलों के वृक्षों में मूँछित सा हो रहा था। शाखा-प्रशाखाओं के नीचे कहीं झिलमिली थी तो कहीं छाया, कहीं पूर्ण प्रकाश, कहीं गम्भीर अन्धकार, मानो चल चित्र का खेल चल रहा हो।

भाड़ियों-भुरमुटों, पेड़ों-पौधों, पहाड़-पत्थरों को लाँघती हुई, आम के नीचे से, भरने के किनारे से वह आगे बढ़ी। जड़ली मुरगियाँ, बटेरों, तीतरों से बातें करती हुई, मुसकराती वह ‘महराज-ताल’ के किनारे पहुँची—जहाँ नीले कमलों पर करोड़ों मधुमक्खियाँ और भौंरे मड़रा मड़राकर गुन-गुना रहे थे। प्रकृति वहाँ अचेतन-सी पड़ी थी।

अलसाई हुई गति से सन्ध्या उस गोल से चबूतरे के निकट जाकर खड़ी हो गई। सर्प की सीटी से आतङ्क के बदले उसका जी आश्वाद से भर उठा। शायद प्रकृति के उस मोहिनी रूप से इस भयानक रूप को उसकी आत्मा अधिक पसन्द करती हो।

परम आदर से साँपों को उसने पुचकारा। फिर लता-गुल्मों को धीरे से हटाकर वह कमल तोड़ने लगी। मधुमक्खियाँ उसके रूखे बालों की जटा में छिपने लगीं—खेलने लगीं। थोड़ी देर तक खेलकर सन्ध्या लड़ियों को प्यार करती हुई लौटी।

कुटी में पहुँचकर उसने आजी को सुई और फूल दिये—फिर सामने की ओर बढ़ी, इस बार उसकी गति तीव्र थी। आजी जब तक माला गूँथेंगी तब तक वह देवताल के सभी मन्दिरों को भाड़कर स्नान कर लेगी।

सखीताल के किनारे से होता हुई वह उन थोड़ी-सी सीढ़ियों को तय करती नीचे उतरी। उस घने आम के नीचे कुछ पल ठहरकर वह आगे बढ़ी।

फिर देवताल के तेरह मन्दिरों को उसने भाड़ा, तब कहीं देवताल की सीढ़ियों से होती हुई जल में उतरी।

उसने एक बार देवताल के चारों ओर के पत्थर की सीढ़ियों पर दृष्टि फेरी। दो सफ़ेद बगुलों को उसने अपना साथी पाया और तालाब भरे हरे सिंघाड़ों को।

शीघ्रता से उसने स्नान कर सूखे वस्त्र पहने, फिर मन्दिरों को पीछे छोड़ती हुई वह देवताल के नीचे उतरी—वहाँ के मन्दिर और संस्कृत पाठशाला को साफ़ करना वह आज भूल गई थी।

(२)

“आज ऐसी देर क्यों लगाई, बहन।” संस्कृत-पाठशाला के उस छात्र ने बड़े भाई की तरह ही पूछा।

“सो गई थी, भैया।”

“मैंने भाड़ लिया है। तुम शिवजी की पूजा कर लो। पण्डित जी आते ही होंगे।”

“कापी और पेनसिल आज भी दादी नहीं लाईं।”

“डरो मत। मैं कल जबलपुर से खरीद लाया हूँ। सबक तो याद कर लिया है न ?”—दूसरे छात्र ने कहा।

“हाँ भैया।”—वह प्रसन्न हो रही थी।

सन्ध्या ने नीचे के मन्दिरों में भी शिव की पूजा की।

छोटी-सी मिठाई की दुकान का बूढ़ा-हलवाई सदा की भाँति पुकारने लगा—“सन्ध्या-बिटिया, यह गुड़ के सेव ताज़े बने हैं, खाकर पानी पी ले ।”

पाठ याद करते-करते उसने सेव का दोना ख़ाली कर दिया ।

उस “शङ्करकुण्ड” भरने के पास साफ़ चट्टान पर बैठे कुछ साधु अकरियाँ बना रहे थे । एक ने आदर से उसे पुकारा—“आओ बेटी, रोटी खालो ।”

किसी प्रकार द्विविधा, संकोच किये बिना भी वह चल पड़ी —“दे दो महाराज, भूख घोर की लगी है ।”

“लो, मोहन तैयार है । अब तक आई क्यों नहीं ? बुढ़िया आज उतरी नहीं !”

“वह बैठी सिंघाड़े काट रही हैं । कल जो बाबू लोग आये थे उन्होंने सिंघाड़े चुरा लिये थे न । सो दादी वहीं बैठी ताक रही है । शाम को भी बेचने न जायँगी । मुझे भी माला सिंघाड़े बेचने जाना होगा ।”

“तो ऐसे कितने सिंघाड़े तोड़े थे ?”

“ऐसे ज्यादा तो नहीं तोड़े थे. किन्तु खींचने से उसके दल ख़राब हो जाते हैं न । मैं मना करती ही गई, परन्तु वे भला काहे को मानने लगे । बड़े आदमी भी कैसे चोर होते हैं !”

“अमीर नहीं तो क्या हम ग़रीब चोर होते हैं ? धनवानों की बेई-मानी ही से तो पृथ्वी इतने नीचे उतर गई है, पाप के बोझ से दबी जाती है ।” साधु अपनी पकी मूँछों पर हाथ फेरने लगा ।

“फिर क्या हुआ ?” दूसरे साधु ने आग्रह से पूछा ।

हाथ मुँह धोकर वह उत्साह से कहने लगी —“पहले विनय की, डराया, धमकाया, किन्तु वे सब के सब लगे दाँत निकालने । दादी फल बेचने शहर गई थी । रामा की मा को पुकारा, परन्तु मेरी आवाज़ शायद नीचे तक नहीं पहुँची होगी । मैं तालाब के इस ओर थी । वे थे उस ओर । गुस्सा आ गया महाराज मुझे—मार ही तो दिया पत्थर । उनमें से जो

सब से सुन्दर था—उसी के माथे पर लगा । पत्थर, खून निकला होगा ज़रूर । वे सब मुझे पकड़ने को दौड़े तब मैं भागी । किन्तु कुछ दूर पर पत्थर से ठोकर खाकर गिर पड़ी ।”

“यह बुरा हुआ । तब ?” अब तक सब बड़े गर्व से सुनते जाते थे और सन्ध्या की पाठ ठोंक-ठोंककर वाह-वाह कहते जाते थे, परन्तु अब उनकी आँखें लजा से भुक गईं, उत्साह की नन्हीं सी छाया भी आँखों में न रही ।

सन्ध्या खिलखिलाकर हँस पड़ी —“आप तो डर रहे हैं । विचारो तो सही कि फिर क्या हुआ ?”

“तुझे मारा होगा ।”

“नहीं भाई, जवान लड़की है; मारते कैसे ! डँटा होगा ।” दूसरे साधू ने कहा ।

“नहीं बना—हार गये । भला मुझे वे मार भी सकते थे ! मैं आम के पेड़ पर चढ़ गई । वे सबके सब निहारते ही रह गये । वे सब लोग हँस रहे थे, महाराज, और मुझे उतरने को कह रहे थे । मैं उतरी नहीं । हाँ—भोली में जो पत्थर भरे थे उससे मैं उनकी खबर लेती जाती थी । अन्त में वे भागे । मैं भी तब उतर कर उनके पीछे दौड़ी, पत्थर से मारती जाती थी ।”

सन्ध्या पर आशीर्वाद और प्रशंसा की बौछार होने लगी ।

“अब वे अपना मुँह देवतराम की ओर कभी न फेरेंगे ।”

“आयेंगे तो क्या हुआ ! मैं उन्हें फिर मारूँ—”

“अरी सन्ध्या इन्हें पानी तो पिला दे ।”—रिनकिया की सास कई युवकों के साथ उसके निकट ही खड़ी थी । बातों में मग्न उनका अस्तित्व न तो सन्ध्या ने जान पाया न साधुओं ने ।

विस्मय का अथाह समुद्र सन्ध्या की आँखों के सामने लहराने लगा । विस्मय से वह वैसी ही रहती यदि वह कान्तिमग्न युवक पुकारकर न कहता—“सिंघाड़े चुराने का चिह्न तो जनम भर के लिए दे चुकी

हो । आज पानी पिलाकर उसी जीवन की रक्षा करो—कल जिसे नष्ट करने पर तुली हुई थीं ।

वह हँस रहा था. उसके सिर में पट्टी बँधी थी ।

सत्-व्यवहार के पास कदाचित् रूढ़ता ने लज्जा से अपने आप मुँह फेर लिया । और शायद सन्ध्या लजा गई, तो भी जीवन में प्रथम बार ।

सन्ध्या लोटे में भर-भरकर शंकरकुण्ड का नीरोग जल सबको पिलाने लगी । उसके चहुँओर भीड़ लग गई । एक पैसे से लेकर चवन्नी तक का ढेर लग गया । वह पैसे उसके पानी पिलाने के उपहार थे । बिना माँगे खुशी से लोग उसे दिया करते थे ।

जबलपुर से कोई तीन मील की दूरी पर रानी दुर्गावती का 'देवताल' है उसी स्थान में वह पली थी । पिता-माता की मृत्यु के बाद आजी के साथ वह रहती थी । किसी प्रकार का अभाव न था, तलाब में सिंघाड़े लगा देती, कद्दू, आम, सीताफल, इमली, कमल के फूल, सिंघाड़े आदि दादी बेच लाती थी । आरोग्य भरने का जल वह पिलाती थी । हज़ारों आदमी सायं-प्रातः वहाँ शङ्करकुण्ड का जल पीने आते रहते । उस कुण्ड का जल आरोग्य गुण से भरा रहता है । उस जल के पान से पेट में किसी प्रकार का रोग न होने पाता । साहबों और धनवानों के भृत्य घंटों घड़ा लि ये वहाँ खड़े रहा करते ।

सन्ध्या के जल के पैसे दादी कभी न छूती । जब कुछ रुपये एकत्र हो जाते, तब सन्ध्या कभी संस्कृत पाठशालाओं व कभी किसी अन्य भले काम को दान कर देती ।

देव-ताल, सखीताल और महाराजताल । सन्ध्या का घर-द्वार । वहाँ के मन्दिर थे उसकी दृष्टि में कला की उत्कृष्ट सृष्टि, कुण्ड था पवित्रता का श्रेष्ठ वरदान और पाठशाला थी ज्ञान व शिक्षा का चरम उत्कर्ष, दादी और साधू थे महत्त्व के आदर्श । बस—उसकी दुनिया इतनी ही थी ।

(३)

हाँ—दुनिया उसकी छोटी थी—अधिक सङ्कीर्ण, परन्तु प्रकृति और साहस की ओर से विशाल थी। उसकी दुनिया में प्रेम था—व्यभिचार नहीं। सत्य था—असत्य नहीं। विश्वास था, अविश्वास नहीं। साहस था—भीरुता नहीं; खुशी थी—दुःख नहीं; स्वप्न था—वास्तव नहीं। दया थी—कठोरता नहीं; भक्ति थी—अभक्ति नहीं; दुनिया उसकी ससीम थी—असीम नहीं

देवताल को आच्छादित किये सिंघाड़े का हरा जाल पड़ा हुआ था। जाड़े की मीठी धूप उस पर पड़ी मुसकरा रही थी।

छोटी-सी नाव पर सन्ध्या आजी के साथ वैठी सिंघाड़े तोड़ने में लगी थी। कभी दो तोड़ लेती तो चार मुँह में भर लेती, दस-पाँच तालाब के किनारे फेंक देती—उन युवकों को जो कि खड़े उससे बातें करते जा रहे थे और सिंघाड़े खाते जाते थे। दादी बातें भी करती जाती और काम भी। वे युवक पानी पीने के लिए नित्य आया करते, अब दादी व सन्ध्या उन्हें आदर से बैठाती, सीताफल, सिंघाड़े खिलाती, कभी गरम भुने चने, लाई आदि।

सन्ध्या एकान्त में अपनी दादी से हँसी उड़ाती—“मैंने पत्थरों से मारकर गिरीश बाबू को ऐसा लहराया कि वे.....” वह बात पूरी न कर पाती और हँसते-हँसते लोट जाती।

दादी डाँटती, धमकाती—“बड़ी शैतान है, भले आदमी जिस पर बारिस्टर; तूने उसे पत्थरों से मारा, अब हँसी उड़ाने में लगी है।”

सन्ध्या चुटकियाँ बजा-बजाकर गाने लगती, अन्त तक दादी भी हँस देती।

सहसा पृथ्वी काँपी। पेड़-पौधे, मन्दिर सब काँपने लगे। युवक एक दूसरे से टकरा गये।

भीत-दादी चिल्लाने लगी—“भूडोल है, बचा लो; नाव डूबी।” नाव डगमगा रही थी और सन्ध्या ! किन्तु उसकी दृष्टि में भय की एक

हलकी सी छाया तक न थी। था अदम्य कौतूहल और विस्मय। भूमि-कम्प की कल्पना तक उसे न थी, उससे वह प्रथम बार परिचित होने जा रही थी।

मोटे वृक्ष जड़ से उखड़कर गिर पड़े। वह उस ओर भली भाँति देखने भी न पाई थी कि ऊपर की ज़मीन फट गई, मन्दिर फटने और टूटकर उसके चूड़ा गिरने लगे। सन्ध्या ने युवकों की ओर दृष्टि फेर उनकी दशा देखकर वह खिलखिला पड़ी। पानी से सन्ध्या और दादी भीग चुकी थीं। सिंघाड़ों को ठेलकर कभी जल ऊपर उठ जाता, कभी नाव सहित नीचे। दो ही एक मिनट के भीतर नाव लौट पड़ी।

गिरीश और उसके मित्रों ने जब उन दोनों को जल से बाहर निकाला तब पृथ्वी शान्त हो चुकी थी। सन्ध्या कुछ सँभली थी, किन्तु दादी की दशा खराब थी।

मन्दिर की दालान में दादी को लिटा दिया, कुटिया दूर थी। देव-ताल-निवासी और संस्कृत पाठशाला के गुरु से लेकर छात्र तक उसे घेरकर आँसू बहाने में लगे थे। सन्ध्या एक ओर बेसुध-सी बैठी थी। उसकी हँसी आमोद की समाधि हो चुकी थी।

दादी ने आँखें खोलीं—“तुम ब्राह्मण हो या कायस्थ ?”—बड़े कष्ट से, रुक-रुककर, उसने पूछा—शायद गिरीश से या उसके मित्रों से।

“हम दोनों ब्राह्मण और गिरीश कायस्थ है। बात क्या है दादी ?” एक ने पूछा। बूढ़ी को सब लोग दादी कहते।

आनन्द से मृदु मलिन मुख दादी का फूला कमल-सा खिल उठा—“सुनो गिरीश, अपनी सन्ध्या को तुम्हारे हाथ सौंपती हूँ।”

“निश्चय मैं उसको पालूँगा।”—गिरीश ने कहा।

“तो तुम सब साक्षी हो, मन्दिर के देवता भी। मेरे जीते जी ब्याह कर दो भैया।”—उसने साधुओं से कहा।

“आप यह सब क्या कह रही हैं ? असम्भव है—बिलकुल असम्भव।” विपुल विस्मय से गिरीश चिल्ला पड़ा।

“तब क्या होगा ? सन्ध्या को किसे सौंपूँगी ?”

मरणापथयात्री के असीम वेदना-पूर्ण स्वर की कर्ण भङ्गार श्रोताओं पर व्याप सी गई ।

“आदमी होकर जानवर का काम मत करो, गिरीश भैया ।” साधू चिल्लाने लगे ।

“प्रकृत मनुष्यत्व प्रकाश का यही अवसर है ।” धीरे से गुरु ने कहा ।

“देवता के सामने स्वीकार कर अब पीछे हटना नीचपन है । और हमारो बहन क्या लूली-लँगड़ी है ? हज़ारों में ऐसी लड़की न मिलेगी ।” छत्रों ने तेउरियाँ बदलीं ।

“आदमी ही आदमी के काम आते हैं, छिः गिरीश । यदि तुम्हें रुपये का लालच है तो हमसे ले लेना, किन्तु ऐसे वक्त पर आदमी का काम करो ।” मित्रों ने कहा ।

उस धिक्कार के भीतर गिरीश विमूढ़-सा रह गया, अपने को खोया सा । उत्तर-प्रत्युत्तर के लिए उसे वक्त भी न मिला ।

देखते ही देखते विवाह-सामग्री एकत्र हो गई और अर्द्धरात्रि के भीतर ही विवाह हो गया । उसी समय दादी ने भी पृथ्वी से विदा ली ।

(४)

जबलपुर के साफ़-सुथरे सिविल लाइन पर एक मुन्दर सज्जित बँगला, सामने बगीचा । बृहत् फाटक । उसी गेट पर कार लगी । वर-वधू उतरे ।

मङ्गलाचार था ? नहीं । और शहनाई का मीठा मिलन-गीत ? नहीं । कई कौतूहली, विस्मित, रहस्यपूर्ण दृष्टि अवश्य ही थीं—जो कि उन दोनों को घेरे हुए थीं । गिरीश की बहनद्वय और घर के दास-दासी उन्हें घेरे खड़े थे । गिरीश के पिता न थे, थीं माता । वे वहाँ उपस्थित थीं, उनकी दृष्टि में न तो विस्मय था और न विराग; थी केवल प्रचुर उदासीनता ।

“मा—”

“रात में तिवारी आकर मुझे सब कुछ कह-सुन गया है। भैया ! होनहार था। ठहरो, मैं दुल्हिन को लिये जाती हूँ। तुम तब तक चाय पी लो।”

सन्ध्या रहने लगी—उस तरह—जैसे कि एक जङ्गली जानवर सोने के कठघरे में बन्द रहता है। वह उस चाल-चलन, रहन-सहन से ऊब तो जरूर जाती, किन्तु अपनी चाल-चलन, शिक्षा आदि से लज्जित न होती। उसकी शिक्षा और असम्यक् बर्ताव को लेकर नित समालोचना, परिहास आदि चला करते, अवहेलना के साथ वह उस ओर से मुँह फेर लेती।

हज़ार सर पीटने पर भी उसने जूते-मोजे नहीं पहने, भोजन के लिए टेबल पर भी नहीं बैठी। उसने अपना परिवर्तन कुछ भी न किया। इस जीवन से वह सन्तुष्ट थी या असन्तुष्ट, इस बात को समझ सकना कठिन ही नहीं, बरन् एक प्रकार से असम्भव था। पति को वह चाहती थी—कदाचित् देवता से भी अधिक।

सन्ध्या की हरी छड़ियाँ गिरीश के ड्राइङ्गरूम में उच्छृङ्खल आमोद से नृत्य सी कर रही थीं। नर-नारी के हास्यगान से कमरा मुखरित हो रहा था। सन्ध्या के सिवा घर के सब वहाँ उपस्थित थे।

और सन्ध्या सदा की भाँति उस छोटे से कमरे में बैठी चरखा कात रही थी। चरखा वहीं से वह साथ लाई थी। दादी और वह इसमें सूत काता करती थीं। कमरे की खूंटियों पर सूत के ढेर लटक रहे थे।

जिस दिन से पति से उसने विहार-ध्वंस की कथा सुनी थी, उस दिन से व्यथा-सहानुभूति से उसकी छोटी सी छाती भर उठी थी, और बस तभी से उसने सूत कातना आरम्भ कर दिया था। बात ज़्यादा कुछ न थी, उस दिन वह दादी के लिए रो रही थी। गिरीश ने कहा—“भूकम्प में केवल तुम्हारी दादी गईं, जबलपुर का कुछ नुकसान न हुआ, दो-चार मकान फटे बस। किन्तु बिहार प्रान्त में तो महाप्रलय ही हो गया।

आश्चर्य से पूछा था उसने—“कैसे ?”

“इसी भूकम्प से । कहीं धरती फट गई, उसमें घर का घर समा गया; तो कहीं फटी ज़मीन से गरम पानी, गन्धक आदि के फ़ौवारे से चले । कहीं मकानों व पेड़ों के नीचे लाखों आदमियों की जीवित समाधि हुई । केवल इतना ही नहीं, कई दिन तक उसी दशा में कई आदमी जीते रहे । बाक़ी वे जो बचे उन्हें भोजन नहीं, पानी नहीं, रहने का जगह नहीं, ऊपर से वर्षा, नीचे भूकम्प । उस पर बीमारी फैली । कई दिन तक धरती हिली ।”

वह सिहरी—“तो वे भागे क्यों नहीं ?”

“भागकर जाते कहाँ ? तिल बराबर धरती भी साबूत न थी । कहीं कई मीलों तक धरती फटी हुई थी । मकानों की जगह पर स्तूप बने थे—ईंट-पत्थरों के । प्रलय था । अच्छा—मैं अख़बार लाये देता हूँ, हिन्दी-संस्कृत तो भली भाँति जानती हो न ? तो उसमें सब बातें और उस ध्वंस के चित्र हैं, पढ़ लो ।”

तब से सन्ध्या उन चित्रों को घण्टों देखा करती : उन भयानक दृश्यों से उसका छोटा-सा जीव आतङ्क से छड़ा जाता, आँसुओं की धार बह चलती—कैसा भीषण, सर्वग्रासी दृश्य है यह ।

पानी पिलाने के जितने पैसे उसके निकट थे, उसने उन्हें पति को देकर कहा—“भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के लिए इन्हें भेज दो ।”

पत्नी के इस दान से गिरीश आनन्द अनुभव करने लगा ।

सन्ध्या के पास और पैसे न थे, तो वह अविश्राम परिश्रम कर सूत कात रही थी—इसके कपड़े बनवाकर वह उन लोगों के लिए भेजेगी । ननदें इस बात पर उसे परिहास से विद्ध करतीं, वह अनसुनी-सी कर देती ।

चरखा कातते-कातते वह रुकी । गिरीश ने पुकारा—“चलो—मेरे मित्र तुमसे मिलना चाहते हैं ।”

उसे उसी प्रकार चलते देखकर गिरीश ने पूछा—“इसी मोटे, मैले कपड़े से जाओगी, और नंगे पैरों ?”

“हाँ” —उसने दृढ़ता से कहा ।

“तुम्हारे लिए आज मुँह दिखलाना मुश्किल हो रहा है।”

“क्यों?”—स्वर में वही निविड़-विस्मय भरा हुआ था।

“क्योंकि तुम जङ्गली ज़बरन ही मेरे गले मढ़ दी गई हो। फिर भी समझता—यदि तुम मेरा और बहनों का कहना मानती। जैसी तो गँवार हो वैसी ही ज़िद्दी। जल्दी कपड़े बदलो।”

उसके विवाहित जीवन का मदिरा भरा सपना छिन्न-भिन्न, एकाकार हो रहा—उस रूढ़ता में। उस सभ्यता के नग्न वास्तव रूप को देखकर वितृष्णा विराग से उसके अन्तर की प्रेयसी नारी विमुख हो बैठी।

“मैं न जाऊँगी।”—एक हठी बालिका-सी वह कह उठी।

और गिरीश उसी पल में अपने आचरण से स्वयं लज्जित हो गया—
“क्षमा करो, सन्ध्या। चलो।”

“नहीं-नहीं।”

“क्यों, सन्ध्या?”

“मैं उस सभ्य समाज को घृणा करती हूँ—आन्तरिक घृणा—जहाँ कि अपनी स्वाधीन इच्छा तक बनाव-शृङ्गार के हाथ बेचनी पड़ती है।”

अप्रमानजन्य क्रोध से गिरीश का मुँह लाल पड़ गया। अपने को रोककर वह वहाँ से चल दिया।

(५)

“फिर चरखा लेकर बैठ गई हो! सबक याद नहीं किया होगा। मिस डवण्डक आती ही होंगी। बीस खर्च कर रहा हूँ—तुम्हारी ही पढ़ाई में—कि किसी तरह जङ्गली से आदमी तो बन जाओ।” विरक्ति के साथ कहा—गिरीश ने। आनन्द से वह जो कुछ कहने आया था, उसे भूल गया।

‘सबक याद कर चुकी हूँ। देखें कैसे कपड़े बने।’ शीघ्रता से उसने पति के हाथ से गठरी ले ली।

सन्ध्या के काते सूत के ये वस्त्र थे।

“अब चरखा बन्द कर पढ़ने में ध्यान दो सन्ध्या । जिस घर में तुम आई हो, उस घर के योग्य अपने को बनाना तुम्हारा पहला कर्तव्य है ।”

सन्ध्या का मुँह कठोर हुआ, किन्तु फिर भी उसने यह न पूछा कि पत्नी के लिए पति को भी कुछ कर्तव्य, कुछ त्याग, करना पड़ता है या नहीं ? केवल इतना बोली वह—“पढ़ने के बाद भी मुझे वक्त रहता है ।”

फिर भी वही एक सा तर्क, असभ्य व्यवहार । गिरीश के चित्त की कोमलता जाती रही । उन वस्त्रों को देखकर जो प्रशंसा, प्रेम ने उसके हृदय में भरनी आरम्भ कर दी थी—मन के निद्रालु कोने में, वहाँ पुनः निद्रा का अन्धकार छा रहा और प्रभु का प्रभुत्व जाग बैठा—“मैं कहता हूँ इस चरखे को तुम आज से मत छुओ, वरना टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगा ।”

उसने चरखे को गोद में दबा लिया - उसी तरह जिस प्रकार माता अपनी मृत्युमुख सन्तान को हृदय में समेटकर बैठ जाती है ।

“नहीं, ऐसा नहीं हो सकता । केवल तुम्हारे सन्तोष के लिए आज अपनी इच्छा के विरुद्ध काम कर रही हूँ ! वरना अँगरेज़ी पढ़ने में मुझे ज़रा भी रुचि नहीं है । इससे ज़्यादा और कुछ भी नहीं कर सकती । नहीं—तुम्हारे कहने से भी नहीं । इसे अपने से अलग नहीं कर सकती ।”

क्रोध के साथ ही साथ गिरीश को एक प्रकार की खुशी भी होने लगी—वह नारी चाहे कितनी ही ज़िद्दी और असभ्य क्यों न हो, किन्तु फिर भी उसी के सन्तोष के लिए अपनी स्वाधीन इच्छा की बलि दे रही है । इतना भी क्या कम लाभ है ?

“बिहार से कई महाशय आये हैं—भूकम्प-पीड़ितों की सहायता लेने । उनका भाषण गोलवाज़ार में होगा । तुम चलोगी सन्ध्या !” गिरीश का स्वर कोमल था ।

सन्ध्या विस्मय से पति का मुँह निहारने लगी—पति के इस अंश से वह परिचित न थी । भली भाँति जानती थी कि दरिद्र, असहाय, व्यथातुर

के लिए गिरीश के हृदय में तिलमात्र सहानुभूति भी नहीं है और न दया ।

उस दृष्टि के नीचे गिरीश लज्जित हुआ—“तो जल्दी तैयार हो लो, इस गठरी को साथ ले चलेंगे. तुम्हीं अपने हाथों उन्हें दे देना ।”

“और तुम क्या दोगे ?”

“तुम और मैं क्या अलग हैं, सन्ध्या ?”

उसका जी खुशी के पालने पर हलका पवन-सा बहा-बहा फिरने लगा तो पति—उसके पति ऐसे हैं ! उसकी और अपनी सत्ता को एक किये हुए ऐसे देवता से प्रेममय, स्नेहमय हैं ।

गोलवाज़ार के उस गोलाकार बृहत् प्राङ्गण में बिहार के कुछ महाशयों का भाषण चल रहा था । जनता के नेत्रों से आँसुओं की धारा बह चली थी । भीड़ रन्ध्रीन थी । पति के साथ सन्ध्या भी उपस्थित थी ।

तन्मय चित्त से सन्ध्या सुन रही थी । सुनते-सुनते वह अपने-आपको खो बैठी । उसके नेत्रों के सामने से चलचित्र के समान वहाँ के भीषण दृश्य चलने फिरने लगे । वह आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगी । धरती हिली, उसी तरह जैसे कि समुद्र की उत्ताल तरङ्गों में जहाज़ पछाड़े खाता है । पृथ्वी तले हज़ारों कल-पुर्जे चलने के उस गम्भीर रव को वह कान लगाकर सुनने लगी । करुण चीत्कार से पृथ्वी-आकाश एकाकार हो गया । दूसरे ही पल मकान गिरने लगे । सड़कों का कहीं पता तक न रहा । रक्तपिपासु राक्षस की भाँति धरती ने मुँह खोल दिया—करोड़ों गज़ तक, उस खुले हुए मुख से अग्नि की सी ज्वाला निकलने लगी । चारों ओर अन्धकार छा गया । उस गम्भीर अन्धकार में मुँह छिपाकर वह काला दैत्य दोनों विकराल हाथों से ध्वंस का काम करने लगा ।

अपने का भूली हुई सन्ध्या देखती ही रह गई—उस फटी धरती ने हज़ारों मकानों, पेड़ पौधों, जीव-जन्तुओं को निगल लिया । पक्षी एक दूसरे का आलिङ्गन किये सो रहे । कुछ देर के बाद ध्वंसलीला समाप्त हुई । अब चली जीवितों को लेकर मृत्यु की व्यथातुर ब्रीड़ा ।

कहीं अधमरी माता अचेत सी पड़ी हुई, बालक उसके सूखे स्तनों को चूसने में लगा, ऊपर से विरामहीन वर्षा। कहीं बूढ़ा अपने परिवार के शोक और टूटे हुए पैर के दर्द को भूलकर दो दाने चनों के लिए चिल्लाता हुआ, कहीं बूँद भर पानी के लिए किसी युवक की आँखें फटी-सी। सन्ध्या न तो आर देख ही सकी न सुन ही। उसने अपने अलङ्कारों को उतार उतारकर फेंक दिया। वे गहने उसे गड़ने लगे।

वैसे मूल्यवान् ज़ेवरों को पाकर प्रार्थी सन्तुष्ट हुए। प्रशंसा की झड़ी सी लग गई। माता सन्ध्या की जयजयकार से वायु भी शायद चौंक पड़ी। साथ ही गिरीश के पत्नी-भाग्य को लोग सराहने लगे और गिरीश ! वह स्थाणुवत् अचल बैठा था।

(६)

“ऐसा क्यों किया सन्ध्या !”

सन्ध्या के प्रश्नपूर्ण नेत्रों की ओर देखकर गिरीश ने फिर कहा—
“वैसे क्रीमती ज़ेवर अब मैं नहीं बनवा सकूँगा। मैं कोई राजा-महाराजा तो हूँ नहीं।”

उन अलङ्कारों के लिए सन्ध्या सास व ननदों के पास यथेष्ट लाञ्छित हो चुकी थी। वे उसे देखकर मुँह फेर लेती। घर के सब लोग उसे ताने दिया करते।

“क्या ज़रूरत है गहनों की !”

“नहीं कैसे है ! मुझे है न। तुम एक सम्भ्रान्त व्यक्ति की पत्नी हो। मेरे सम्मान की ओर भी तुम्हें देखना था।”

वह चुप रही।

“कहो-कहो—क्यों तुमने ऐसा किया !”

“आदमी भूखे-प्यासे मरें और मैं ज़ेवर लादे बैठी रहूँ ! मेरी तरह वे भी तो आदमी हैं न !”

“जिन्हें तुमने कभी देखा नहीं, उनके लिए स्नेह कैसा ! वे लोग तुम्हारे अपने हुए और मैं पति होते हुए भी तुम्हारा कोई न हुआ !

मेरे दुःख, मान-सम्मान को देखकर भी तुम अन्धी बनना चाहती हो ? सच है—जंगली तोता कभी अपना नहीं होता ।”

“तुम्हें तो किसी तरह का दुःख नहीं है ।”

उत्तर सरल और छोटा था, फिर भी गिरीश झुँझला पड़ा—“दुःख नहीं है ? क्या समझोगी जंगली तुम, कि मेरी इज्जत तुमने किस तरह उतार दी । मेरे जीवनव्यापी परिश्रम और आदर के दान को पल भर में लुटा बैठी । तुम क्या समझोगी कि तुम्हारे लिए मुझे कौन सा त्याग करना पड़ा था—हाँ, ज़बरन ही । मेरी उस वाग्दत्ता कामिनी एम० ए० की जगह जब तुम आ ही गई, तब मैंने यही सोचकर जी को धीरज दिया था कि तुम भी मेरे लिए कुछ त्यागकर मेरा बगल में खड़े होने योग्य अपने को बना लोगी । मेरे सुख-दुःख, भले-बुरे का विचार हृदय से करोगी । किन्तु कहाँ ! सपना-मात्र था । सब कामों में तुम मेरे विरुद्ध खड़ी हो जाती हो । यहाँ तक कि एक टेबुल पर बैठकर प्याला, भर चाय भी मेरे सम्मान, सन्तोष के लिए तुम नहीं पी सकती । बहुत कुछ सह चुका सन्ध्या । सब बातों की सीमा रहती है ।”

“मैं तो अपना जीवन देकर भी तुम्हें सुखी करना चाहती हूँ । देवता को जो भक्ति-प्रेम का अर्घ दिया करती थी—सेा तो अब तुम्हारे ही चरणों में दिया करती हूँ ।” लज्जिली आँखें धरती में गड़ाकर धीरे से उसने कहा ।

“इसी तरह मेरा सर्वस्व लुटाकर ?”

“नहीं । ऐसा तो नहीं है ।”

“उस दिन तुमने जो कुछ किया उसका क्या उत्तर है ?”

“कहना तो मैं कुछ भी नहीं चाहती । मेरी आत्मा ने जो कुछ चाहा उसे किया मैंने । उनकी ज़रूरत हमस दसगुनी ज़्यादा थी ।”

“नहीं, तुमसे तर्क करना भी अपनी बेवकूफी ज़ाहिर करना है । दे तो आई ज़ेवर, किन्तु इतना समझे रहना कि दिन पर दिन यह माँग

दूनी होगी। घर में रहना कठिन हो जायगा। तब क्या दोगी, अपने को बेचोगी क्या ?”

सन्ध्या घीमी हँसी।

झुँझलाकर गिरीश पूछ उठा—“चाय पीना दूषणीय है क्या ?”

“नहीं।”

“तब पीती क्यों नहीं हो ! मेरे मित्रों के अनुरोध का क्या कुछ भी मूल्य नहीं है ?”

“किन्तु मुसलमान और दूसरी जाति की लुई चाय मैं वैसे पिऊँ ?”

“इतना घमण्ड ! लुआळूत ! आदमी होकर आदमी को घृणा करती हो और किसी की ज़िन्दगी भर की कमाई उसी आदमी के लिए पल भर में लुटा देती हो ! यह कौतुक नहीं तो क्या है ! अच्छा जाने दो। रुपये दे दो। बैङ्क में जमा करना है।”

“रुपये नहीं हैं।”

“नहीं हैं, क्यों ?”

“सब बिहार के लिए दे दिये।”

माथा थामकर गिरीश बैठ गया।

(७)

घर में गिरीश बहुत कम रहता। पत्नी की ओर से उसका चित्त विमुख हो गया था। कभी आधी रात को घर लौटता, उस समय उसकी स्थिति कुछ और ही रहती।

रात के कोई दो बज चुके थे। चरखा हटाकर सन्ध्या तब चुपचाप बैठी थी। विचार रही थी सन्ध्या—उन सूनी घाड़ियों में क्या मैं उन्हें सुखी नहीं कर सकती ! सबके साथ बैठकर टेबल पर भोजन करना, चरखा को जीवन से अलग कर देना, दीन दुखी के अभाव पर परिहास करना, सबके सामने हँस हँसकर पति के गले में बाँह डालना—क्या मैं यह सब नहीं कर सकती !—नहीं—नहीं, छिः। किन्तु दूसरे ही

क्षणा वह विचार उठी—जब कि उन्होंने मेरे लिए कामिनी जैसी नारी को त्याग दिया है, तो मैं भी यह सब क्यों न करूँ ! उसकी दुनिया छोटी थी, उसी दुनिया में वह अपनी हलकी सी बुद्धि के बल पर विचारने को बैठ गई—किन्तु सब का लुआ मैं कैसे खाऊँगी ! धृणा से वह संकुचित हुई । फिर सोचने लगी सन्ध्या—यदि कामिनी से उनका ब्याह कर मैं देवताल लौट जाऊँ ! फिर मैं उन्हें देखूँगी कैसे !—तुम्हें देखे बिना मैं मर जाऊँगी ।—सन्ध्या के कंठ से ये शब्द निकल पड़े, वह सिसक सिसककर रो पड़ी ।

“किसे देखे बिना मर जाओगी सन्ध्या ?” गिरीश उसके सामने खड़ा था । पति का आना सन्ध्या जान न पाई थी ।

“तुम्हें—तुम्हें ।” गिरीश ने आदर से पत्नी को हृदय से लगा लिया । देवताल में घूमने के लिए उस दिन गिरीश और सन्ध्या मित्र-मण्डली के साथ आये हुए थे । कामिनी भी उनकी साथिन थी ।

प्रकृति की गोद में पत्नी सन्ध्या उसी गोद में लौटकर दुनिया के भी भूल बैठी ।

परिहास के साथ एक मित्र बोला—“जङ्गली हिरन को जङ्गल मिल गया । अब पूछना क्या है ?”

“जङ्गली मैना को कहीं सोने की जङ्गीर भी भाई है ?” दूसरा बोला ।

“महल में रहने से नाव पर बैठकर सिंघाड़े तोड़ना कहीं अच्छा होता है ।”

वह किसी और ध्यान न देकर कमल का हार गूँथने बैठ गई ।

कामिनी बोली—“कमल के हार के आगे कहीं हीरे-मेती के ज़ेवर अच्छे लगते हैं । तभी तो सन्ध्या बहन ने उन्हें दे डाला । है न बहन !”

“मैंने अपनी ही चीज़ दी थी ।” सन्ध्या ने ज़ोर के साथ कहा ।

“शायद आप ही कमाकर लाई थीं ।”

“नहीं, मेरे पति । वे और मैं अलग नहीं हूँ ।” —सन्ध्या ने ताच्छिल्य से कहा । इसके बाद हार लेकर उसने गिरीश के गले में डाल

दिया। गिरीश विमूढ़ सा पत्नी को निहारने लगा—पत्नी के इस सखी, प्रेमिका, प्रेयसी हृदय के साथ वह प्रथम बार ही परिचित हो रहा था न।

घूमते-फिरते वह छोटी-सी मण्डली दादी की कुटिया में पहुँची। सब ज्यों का त्यों था। वह साधु भी अपनी-अपनी कुटिया में वैसे ही रहा करते थे। कहीं पर कुछ परिवर्तन नहीं था। खुशी भरी दृष्टि से सन्ध्या ने चारों ओर देखा। उसने कुटिया का ताला खोला।

जलशून्य घड़ा एक ओर पड़ा था। वस्त्रों पर मन भर धूल जमी हुई थी। बक्स भी वैसे ही रक्खा था। सन्ध्या ने उसे खोला, उसमें कुछ पैसे और कागज़ों का बण्डल रक्खा था।

“अरे दादी पढ़ती-लिखती भी थीं क्या?”—मित्रों ने कागज़ उठा लिया और कौतुक से पढ़ने लगे। पढ़ते-पढ़ते वे चिल्ला पड़े—“गिरीश यह क्या! सन्ध्या कायस्थ नहीं, गोंड की लड़की है। इसके बाप का नाम जनक और मा का भवानी है।”

गिरीश की मा और बहनें कागज़ों पर भुकीं—“हाय हाय सर्वनाश हो गया, जाति, धर्म सब कुछ गया।” माता सिर पीटने लगीं। वे भी साथ आई थीं।

“क्या यह सच है सन्ध्या?” मानो कूप के भीतर से आवाज़ आई। पति के उस स्वर को सुनकर सन्ध्या चौंकी। किन्तु शायद उसने कुछ सुना, कुछ समझा हो। उसके अन्तर में केवल वही प्रश्न सिर पीट रहा था—छुआछूत की ओर से जो लोग प्रशस्त हृदय का दावा रखते हैं—उन्हीं को उसी छुआछूत और जाति-विचार की रुचि कैसे हो गई?

“कहो सन्ध्या, तुम किस जाति की हो?”

“जाति? किन्तु तुम किस जाति के हो?”—यद्यपि उसने सरलता के साथ पूछा, किन्तु गिरीश ने समझा उलटा।

“ऊपर से बनना। क्या नहीं जानती हो कि हम कायस्थ हैं?”

“जाति ? किन्तु जाति पर मैंने कभी विचार नहीं किया । और घर में कभी किसी तरह पूजा-पाठ होते नहीं देखा, इसलिए समझी थी कि तुम्हारी कोई जाति भी नहीं है ।”

“तुमने अपनी जाति को छिपाया क्यों ?”—गिरीश ने पूछा ।

“मैंने छिपाया ?”—उसने बड़ी-बड़ी आँखें फाड़कर पूछा ।

“तो छिपाती ही क्यों ? मैं नहीं जानती कि मैं किस जाति की हूँ ।”

“घर चलो गिरीश ।” मा ने अधीर स्वर से कहा ।

“और सन्ध्या ?”

“पागल हुआ है ? इस गोंडिनी को घर में जगह कौन देगा ?”

चलते-चलते गिरीश लौटा —शायद सन्ध्या से कुछ कहना चाह रहा हो । माता ने हाथ पकड़कर खींचा । उसने एक बार पत्नी की ओर देखा, दूसरी बार माता की—फिर सिर नीचा किये चल पड़ा ।

और सन्ध्या ? कौन जाने । उस जङ्गली स्त्री के मन की कथा तो जङ्गली हवा ही जान सके । परन्तु इतना तो सही है कि गिरीश के पत्नी-त्याग के साक्षी देवतालवासी न रहे, रही केवल नीरव-प्रकृति ।

(८)

“तुम्हारे छिपाने से क्या होता है । मैंने सब बातें सुन ली हैं । क्या सचमुच ही गिरीश तुम्हें त्याग गया ?” पण्डितजी ने पूछा ।

सन्ध्या चुप रही ।

“उसने भूल की । वह वंश-परिचय तुम्हारे पिता का नहीं, गोंड जनक का है । तुम्हारा वंश-परिचय मेरे पास है । तुम कायस्थ हो । उसे लेकर आज ही गिरीश के पास जाऊँगा ।”

“नहीं—नहीं ।” आतुर स्वर से कह उठी सन्ध्या ।

“क्यों ?”—पण्डित विस्मित हो रहे थे ।

“जहाँ प्रेम-प्यार, भक्ति को तुच्छ समझा जाता है, विवाहित-स्त्री, सहधर्मिणी को, और एक असहाय नारी को जाति-विचार से—पैर बले

दलित करते हैं, जहाँ कर्तव्य एक खेल है, जहाँ जाति-विचार के पास मनुष्यत्व हेय हो जाता है—वहाँ—वैसी जगह पर मैं नहीं जा सकती हूँ।”

परिणतजी चुप हो रहे ।

सब कुछ सुनकर गिरीश चुप हो रहा । सबने कह दिया कि वह वंश का परिचय जाल है ।

गिरीश के दिन कट रहे थे सुख से, सन्ध्या समय आमोद-प्रमोद की बाढ़-सी आ जाती । कार्मिनी हँस-हँसकर पियानो बजाती । उसके साथ गिरीश का पुनर्विवाह प्रायः तय पा चुका था ।

आनन्द में गिरीश बहा-बहा फिरता, परन्तु परम आश्चर्य तो यह है कि उस रन्ध्रीन आमोद को भेदकर कभी इस सभ्यता संस्कृति के सामने वन की नग्न प्रकृति गिरीश के आगे अड़ जाया करती, वह घबरा उठता, अपने से उसे अलग करना चाहता; किन्तु उतना ही उसमें लिपट सा जाता ।

कभी वह विस्मय से सोचता—उस असभ्य अशिक्षित बालिका ने क्या उसके शिक्षित, मार्जित हृदय पर विजय पा ली है ? तो कभी इस उच्छृङ्खल आमोद से विमुख उसकी आत्मा उस दृढ़ बालिका के लिए लालायित होती ।

उसके एक ओर थी प्रेम की उच्छृङ्खलता, सभ्यता की असीम स्पर्धा एवं दूसरी ओर थी प्रेम की नम्र श्रद्धा और मन्दिर की अवगुंठिता पुजारिनी । इन दो आकर्षणों से कभी वह बेचैन हो जाता । सभ्यता, विलासिता-मार्जित दृष्टि के बदले कभी मन्दिर के जुगनू के दीवट जैसी उस पावन दृष्टि के लिए विकल हो जाता । गिरीश ज़बरन ही अस्वीकार करता कहाँ पाश्चात्य की शिक्षा-उज्ज्वल विदुषी और कहाँ प्राच्य की जंगली असभ्यता ।

उस सन्ध्या में कोट पहनते समय उसके पाकेट से कमल का हार निकल पड़ा । उस कोट को वह बहुत दिनों के बाद पहन रहा था । माला सूख चुकी थी । कमल की नीली आभा मर मिटी थी । किन्तु

उसकी मौत कहाँ थी—उस मोहनी की—जो कि प्रत्येक सूखी पखुड़ियों में दबी हुई बैठी भाँक रही थी !

(९)

“सन्ध्या ।” —शङ्कर कुंड के निकट खड़ा पुकार उठा गिरीश ।
अपने ही अनजान में कब वह वहाँ तक पहुँच गया था, यह गिरीश स्वयं नहीं जानता था ।

सन्ध्या चौकी, जल का लोटा गिर पड़ा । वह पानी पिलाया करती थी पूर्व की भाँति ।

सन्ध्या ने कान लगाकर उस स्वर को सुना जो कि उसके रोम-रोम में व्याप ही नहीं किन्तु बस रहा था ।

“सन्ध्या ।” गिरीश ने फिर पुकारा ।

सन्ध्या ने मुँह फेर लिया —वृणा से नहीं । फिर क्यों ? शायद दुनिया के सामने बहते आँसू की करुण कहानी छिपाना चाह रही हो ।

और गिरीश ने समझ लिया उलटा । क्रोध से, अपमान से वह काँपने लगा ।

सन्ध्या ने जब मुँह फेरा, तब वहाँ गिरीश नहीं था ।

अथाह चाँदनी में पर्वत-शिखर पर बैठी सन्ध्या पाठ याद कर रही थी—संस्कृत का ।

नीचे आकर खड़ा हुआ गिरीश ।

“सन्ध्या” । —पुकारा गिरीश ने ।

सन्ध्या विस्फारित नेत्रों से पति को देखने लगी ।

“सन्ध्या” —पुकारा फिर उसने । वह शायद कहना चाह रहा था — घर चलो । परन्तु फिर भी कहा उसने, पुकारा उसने — “सन्ध्या—सन्ध्या” ।

सन्ध्या हँसी — “ऐसी सर्दी में यहाँ मत खड़े हो । बीमार पड़ जाओगे । कभी-कभी इसी तरह दूर से दर्शन दे दिया करो —” वह चुप हो रही ।

“सन्ध्या”—फिर भी द्विविधा ने आकर उस कंठस्वर को रोक लिया ।

एक दूसरे को निर्वाक् विस्मय से देखने लगे—मानों जातिविचार निर्वाक था और मनुष्यत्व था विस्मय-विमूढ़ । पर्वत शिखर को उज्ज्वल किये बैठा था मनुष्यत्व और कोई हज़ारों गज़ नीचे, करोड़ों नियमों के फन्दे में जकड़ा हुआ खड़ा था समाज ।

दूर से ही पत्नी ने पति को प्रणाम किया—शायद अन्धविश्वास से, अथवा आन्तरिक श्रद्धा से, हो सकता है संस्कार-वश, कदाचित् प्रेम से हो ।

—

प्यास

उस दिन और आज की परिस्थिति में अन्तर अवश्य ही हिमालय पर्वत-जैसा रहा होगा, परन्तु दिन था वह भी इसी भारत का—सुवर्ण रौद्र किरण में झलमलाता-सा । हरद्वार की वह कलकलाती-छलछलाती, ज्ञातयौवना गङ्गा, साँझ-विहान रूपसियों का खासा मेला, धनवानों-दरिद्रों की भीड़, तट से प्रायः लगे हुए छोटे-बड़े मकान, भोंपड़ियाँ ।

श्रीनाथ, बलिष्ठ और सुन्दर युवक श्रीनाथ, उस उजड़े से मकान की खिड़की के सामने बैठा-बैठा कुछ लिखने की चेष्टा करता । उसका चित्त अनजान दिशा में भ्रम जाता—वह ऊँची अट्टालिका, और उसके अधिवासी सुखी हैं—सुखी-असीम सुखी । कितनी अनगिनती कुसियाँ, मेजें, सोफे, अरगनी पर सुन्दर चमकीले वस्त्र, छोटे-बड़े टीन और मटके अनाज से भरे हुए । गेहूँ से आधा भरा वह मटका ? उसी में तो उसकी पीठ का बोझ खाली किया गया था न । और वह ऊँची मसनद ? कैसा गुल-गुला था वह गद्दा । नहीं भी कैसे ? पैर ही तो रख पाया था वह उस पर, और—श्रीनाथ की चिन्ता उस स्वर्ण-कलश-युक्त पलंग पर टिक गई ।

दृष्टि की सार्थकता, मन की मादकता—उस अपूर्व सुन्दरी की ओर से श्रीनाथ आँखें फेरता भी कैसे !

माता पुकारती—“आज भी नहीं गया काम पर ? तीन नाशे कट जायँगे, हफ्ते में मिलेगा ही क्या ! नन्हें-नन्हें बच्चे भूखों मरेंगे ।”

उस सुन्दरी की सलवार का गोटा श्रीनाथ के नेत्रों में झपकी भर देता, ओढ़नी का कलावत् हृदय में बिजली का प्रकाश फैलाता ।

“हूँ ।” —कहता वह—“हूँ—हूँ ।”

“बैठने से कहीं काम चला है ? जा बेटा, कहीं खोज-ढूँढ़कर देख, काम कहीं लग ही जायगा ।”

“साबल, फावड़ा सब टूट गये ।”

“दूसरे ले लो ।”

“हाथों में यह छाले ।”

“तो बोझ ही ढो ले ।”

भल्ला पड़ता श्रीनाथ—“तो मैं ही क्यों दिन-रात मेहनत-मज्दूरी करूँ ।”

“फिर करे कौन ? मैं !”

“सो मैं क्या जानूँ ? अकेला पेट, अकेला आदमी ।”

“तेरे ये भाई-बहन और मैं !”

“मैं क्या जानूँ ?”

“फिर इसी लिए तुझे पाल-पोसकर इतना बड़ा किया ?”

“क्यों ?”—अवाक्-विस्मय से पूछता—“क्यों ?”

“क्यों ? नादान जैसी बातें करता है ! बिना कमाई के कहीं दुनिया चली है, खायगा क्या ? पैसे चाहिए—पैसे ।”

“और इसी उम्मीद से तूने पाला था मा ?” फिर वह गुनगुनाकर कहने लगा—“कमाई—पैसे ।”

उसके भावुक चित्त पर बड़ा आघात लगता ।

×

×

×

×

तब पौष के शुभ्र वात से बरफ़-बिन्दु-से भरने लग गये थे । युवक श्रीनाथ शीत से काँपता हुआ बोझा उठाये दबता-सा चला जा रहा था— एक चपरासी के पीछे-पीछे । और जब दुतल्ले पर सुसज्जित अट्टालिका में वह उपस्थित हुआ, तब अट्टालिका में सर्वत्र विद्युत् का तीव्र प्रकाश फैल चुका था । उस वैभव के प्रति लालायित होकर देखा उसने, किन्तु दृष्टि आबद्ध हो रही गलीचे पर बैठी सुन्दरी के गुलाल-जैसे मुख पर — गङ्गातीरवर्ती पारिजात सी उसी नारी पर ।

“क्या देख रहा है बेवकूफ़ !”

भक्का खाकर श्रीनाथ जैसे कुछ देर के लिए जागा-सा, पीछे वही चपरासी था ।

“पलंग की वही परी ।” तन्द्रा से जैसे श्रीनाथ का स्वर मन्द हो गया हो ।

बैठी हुई तीनों नारियाँ खिलखिलाकर हँस पड़ीं—मानों उनके सामने एक जीवित कौतुक हो ।

“चपरासी, तुम जाओ, रामसहाय से कहो—बोझ लेता जाय ।” एक स्त्री ने कहा । कदाचित् वे दोनों इसकी सहचरी हों या दासी ।

बोझ से छुटकारा पाकर श्रीनाथ सीधा होकर खड़ा हो गया ।

“क्या देखता है मज़दूर !”

“उस परी को ।” —अनायास श्रीनाथ कह उठा ।

फिर भी वही फुलझड़ी-सी हँसी ।

“इसे जानता है ?”

“नहीं ।”

“ये प्रसिद्ध सुरमाबाईजी हैं ।”

“नहीं, परी ।”

“तो परी को देखने के लिए भी पैसे लगते हैं ।”

“पैसे ?” श्रीनाथ की चेतना लौटी ।

“समझे ! पैसे लगते हैं—पैसे—पैसे ।” एक स्त्री बोली ।

“अब बेवकूफ की तरह खड़ा ही रहेगा या जायगा ?” दूसरी ने आवाज़ लगाई ।

उसे जाते देखकर सुरमा उठी । “बेचारा गरीब ।” कहते हुए उसने आलमारी खोली और पाँच रुपये निकालकर कहा—“लो ।” हाथ पसारकर श्रीनाथ ने ले लिये वे रुपये और फिर कहा—“लो ।” जैसे बाईजी की प्रतिध्वनि कर उठा हो ।

“क्या ?”—विस्मय से सुरमा ने पूछा ।

“पैसे लो ।” वही पाँच रुपये सुरमा के पैर के नीचे रखकर खड़ा था श्रीनाथ ।

सखियों की नस-नस में कौतुक भर उठा । किन्तु हँसने का प्रयत्न करके भी सुरमा हँस न सकी । अनिमेष दृष्टि से वह श्रीनाथ को देखने लगी—सो भी इतने हास-परिहास, व्यङ्ग्यकौतुक के बाद ।

“तुम भले हो, चङ्गे हो, स्वस्थ हो, सुन्दर हो, युवक हो ।”—वह बोली इस तरह, जैसे कि गुनगुनाकर अपने आपको सुना रही हो ।

“तो ?” वैसे ही पूछा श्रीनाथ ने ।

सुरमा जैसे इठला-इठलाकर देखने लगी उसे ।

“चाह नहीं सकती हो तुम मुझे ?” श्रीनाथ ने प्रतीक्षा बिना किये ही पूछा ।

“नहीं ।”

“सो भी क्यों नहीं ? जब कि मैं सुन्दर हूँ, स्वस्थ हूँ, भला हूँ, तब भी ? जब कि मैं तुम-सी नारी से प्रेम करने के लायक हूँ और जब कि मैं तुम्हें चाहने लग गया हूँ —तब —तब भी नहीं ? फिर भी नहीं क्यों ?”

“एक कमी—वह भारी कमी जो है तुममें ।”

“कमी ?”

रुपये उसे लौटाकर सखियों ने कहा—“दूर हो जा मज़दूर । इस परी का सपना देखा कर । इसे देखने के लिए हज़ारों रुपये की ज़रूरत है । इन पैसें से तेरा एक महीना कट जायगा ।”

“पैसा -पैसा” गुनगुनाता श्रीनाथ चल पड़ा। उसकी छाती पर वज्र-सा लगा। पैसों से प्रेम का सौदा।

×

×

×

×

भारत के स्तन से दूध की धारा। चारों ओर हरियाली, छोटे-बड़े अनेक हरे खेत। उनके बीच में बनती हुई दुमझिली अट्टालिका। ईंट-गारा ढोते और पत्थर तोड़ते हुए मजदूर। खेतों को जोतते और बोते हुए किसान, मजदूर।

श्रीनाथ पत्थर तोड़ रहा था। हथौड़े का आघात पत्थर पर—जैसे पैसों की एक सुन्दर ध्वनि हो।

पैसा—पैसा, प्रेम के मूल में पैसा, माता के स्नेह का आधार पैसा, दुनिया की इज्जत में पैसा, साधु की धूनी में पैसा, दुनिया रमी है पैसों पर। सो यह पैसे!—सोचते हुए श्रीनाथ ने कुरते की जेब से पाँच रुपये निकाले, हथेली पर उन्हें रखकर मोहित-सा वह देखता रह गया। जीवन में एक साथ पाँच रुपये शायद ही कभी देखे हों, नये, चमकीले, गोल-गोल, वे पूरे पाँच रुपये।

तो ये रुपये! हाँ, अमीरों को अमीरी ठाठ से रखनेवाले, मन-चाही चीजों को खरीदनेवाले ये रुपये—सो इन्हें मैं भी कमा सकता हूँ। नहीं भी कैसे? ये पाँच? मैंने ही तो ये पाँच पल-भर में कमाये हैं।

खन-खन—वाह, कैसी मधुर ध्वनि है इन रुपयों की! और वह नरम गद्दी! वह परी! सब—सब खरीद सकता हूँ रुपयों के बल से।

श्रीनाथ मुग्ध नेत्रों से रुपयों को देखने लगा। कभी हाथ से उनका वजन तोलता, कभी आँख के नीचे तक उन्हें ले जाता, कभी जिह्वाग्रभाग से स्पर्श करता, कभी गिनता।

पैसों ही पर थमी है यह धरती। चाहूँ तो मैं भी कल उस चमकती हुई कार पर बैठ सकता हूँ, वैसी पचासों कारें खरीद सकता हूँ। और उसे! घमण्ड में चूर औरत, एक वेश्या, वह भी मुझ गरीब से गरीबी के कारण घृणा करे! नारी, मोहिनी, राक्षसी नारी नहीं भी कैसे! माँ—

मेरी अपनी माँ—हाँ, चाहिए पैसा, रमी है धरती पैसों पर ? कमा सकता हूँ पैसा, यह पाँच रुपये । फिर कैसे ?

जब श्रीनाथ की चिन्ता गम्भीरता में डूबने को हुई, तब पीछे से लगाई किसी ने जूते की ठोकर —“क्यों रे पाजी, कामचोर, इसी तरह से काम कर रहा है ? दिन-भर की मज़दूरी काट लूँगा ।”

उस ठोकर से वह परिचित नहीं था—ऐसा नहीं, किन्तु फिर भी न जाने क्यों, श्रीनाथ का दारिद्र्यपीडित निर्जीवप्राय मन उस ठोकर को सह लेता—जैसे दुनिवार-सा हो । किन्तु उस दिन वह उठा —“खर-दार, मारनेवाले तुम कौन होते हो ? रख लो अपना काम ।” इसके बाद वाद-प्रतिवाद का अचसर दिये बिना ही उसने उठा ली अपनी हथौड़ी और चल पड़ा ।

“ओ श्रीनाथ, हमारे यहाँ काम करोगे ?” एक अन्य व्यक्ति ने पुकारा । श्रीनाथ चलते-चलते रुका और फिर उसके यहाँ काम करने में जुट गया ।

शीत की उस भरी दोपहरी में एकाकी श्रीनाथ खोदता चला जा रहा था, कभी उस ओर की हरियाली पर उसकी भटकी-सी दृष्टि बँध जाती, कभी चित्त भरम षडता उस अट्टालिका के नरम गलीचे पर, रूप परी बाईजी पर । और तब चित्त लौटकर रम रहता पैसों पर—चाहिए पैसा, पैसा-पैसा ।

और यह धरती ! वे हरी-हरी गोहूँ की बालें ! यह घास पत्ती, पेड़-पौधे, ये आलू, बैंगन, सेम ? सभी तो धरती ही उपजाती है न ? और पैसे ! सहसा वह एकदम सीधा होकर खड़ा हो गया, आँख गढ़ा-कर धरती को देखने लगा । देखते-देखते वह पागल की त-ह हँस उठा—है, इसी धरती के नीचे पैसों का ढेर है—पैसे, रुपये, सोना । कैसा अन्धा हूँ मैं, कैसा पागल ! अन्न की हॉड़ी यह अपने गर्भ में भरे रहती है, शाक सब्जी, फल-फूल सब—सब । फिर पैसे ही क्यों नहीं ? हैं और ज़रूर हैं पैसे । इन्हीं पैसों से भरी धरती पर कब्ज़ा करने के लिए

ही आदिकाल से एक-दूसरे से लड़ते-झगड़ते, खून बहाते आ रहे हैं न !
कैसा अन्धा हूँ मैं !

अर्द्ध-उन्मत्त सा जब श्रीनाथ घर आया, तब माता अवाक, शङ्कित
मुख से उसे देखती ही रह गई, तब तक खोदने के यन्त्रों को लेकर वह
चल ही तो पड़ा था ।

हरद्वार से दूर—बहुत दूर तराई में, घाम में तपा हुआ श्रीनाथ खोदता
ही चला जा रहा था । एक दृढ़ निश्चय उसके हाथों में शिथिलता
आने न देता, स्थिर निश्चय हृदय में निराशा को न आने देता. चला जाता
वह खोदता हुआ—रात-दिन भूखा और प्यासा । न जाने कितने दिन
और कितनी रातें निकल चुकीं, किन्तु श्रीनाथ की स्फूर्ति निकलकर भी
न निकलना चाहती ।

X

X

X

X

चन्द्रमा की रजत चाँदनी, उस प्रशस्त गड्ढे में जैसे अनगिनती
सितारे चमक उठे । एक क्षण खोदना बन्द कर श्रीनाथ के नेत्र, हृदय
उसी चमक में कब समाहित-से हो रहे, सो वह कुछ भी नहीं जानता ।

तब ! उस एक दिन की बात । उस बृहत् अट्टालिका, अनेक
दास-दासी, गाड़ी-मोटर के झमेले में भी कहीं पता न चलता उस मजदूर
नहीं, अमीर, स्वर्ण-खाने के मालिक श्रीनाथ का । नहीं, उस दिन भी
नहीं—जिस दिन कि सुरमाबाई की गाड़ी आकर उसके द्वार पर रुकी ।

नवनिर्मित, परिष्कृत गृह, मूल्यवान् द्रव्य-सामग्री, श्वेत रेशमी वस्त्र
पहने, माला जपती, सङ्गमर्मर की चौकी पर बैठी जम्हाई लेती हुई श्रीनाथ
की माता । सुरमा मणि-मुक्ता खचित वस्त्र-अलङ्कार पहने एक जीवित
नक्षत्र की भाँति आकर खड़ी हो गई ।

विनीत प्रणाम के साथ पूछी उसने श्रीनाथ की बात । माता ने
उस ओर अवहेलना से देखा, कहा—“श्रीनाथ ! ऊपर होगा ।”

झपटी-सी चली गई सुरमा ऊपर, कमरों में भाँकती हुई उस कमरे
में पहुँची—जहाँ रुपये, पैसे, मोहरों के ढेर लगे हुए थे । बन्द द्वार के

काँच के भीतर से उसने भाँक कर देखा, नहीं, उन ढेरों के पास श्रीनाथ कहीं भी नहीं था। विस्मय स्तब्ध वह ढेर तक खड़ी रही। फिर श्रीनाथ के छोटे भाई से पूछा। उत्तर वैसा ही सीधा-सा संक्षिप्त था—“होंगे कहीं बैठक में।”

पहुँची सुरमा बैठक में भी—जहाँ कितने ही धनीमानियों, व्यापारियों आदि का एक खासा दरवार-सा लगा हुआ था। मुनीम-गुमाश्ते सिर मुकाये कुछ लिख रहे थे।

“श्रीनाथ बाबू कहाँ हैं?” सुरमा ने व्यस्तता से पूछा।

“उन्हीं के लिए हम भी बैठे हैं—उस आश्चर्य की कथा सुनने के लिए।”

“मिट्टी के नीचे से सोना निकाला, एक अचम्भा ही तो हो गया।” एक ने कहा।

कोई कह उठा—“कल का मज़दूर आज का राजा, अजीब है यह दुनिया।”

“अरे भाई, अपढ़ मज़दूर के भीतर भी एक ऐसी प्रतिभा भरी है, सो कौन जानता था।”

“बस।”—हाथ उठाया सुरमा ने—“कहाँ है वह?”

“ईश्वर जाने।”

“मैं उसे ढूँढ़ निकालूँगी।”—चल पड़ी सुरमा अशान्त गति से। कहाँ-कहाँ उसने खोजा और कब तक वह खोजती रही, सो तो वही जाने।

×

×

×

×

उस दिन आकाश में सूरज डूब चुका था। मेघों के साम्राज्य में पवन लुप्त हो गया था, धूसर परछाईं में धरती निद्रित-सी हो रही थी।

बोल उठी सुरमा की पायल रिन-भिन उस स्वर्ण-भंडार के मध्य में। अन्धकार? नहीं, उस खाने के भीतर सूर्य-किरणें पिचकारी में भरकर फँकी जा रही थीं—चारों ओर स्वर्ण की झिलमिली।

सुरमा मध्य भाग में पहुँचकर थम रही, नेत्रों की दृष्टि में समा रहा एक सर्वग्रासी मोह, और तब उसका विस्मय विमूढ़ता में समा रहा—तभी—जब कि देखा उसने श्रीनाथ को वहीं पर बैठे हुए।

चारों ओर चमकीले स्वर्ण-प्रस्तर, छोटे-बड़े चमकते पत्थर, उन्हीं पर बैठा, देह को उसी में चिपकाकर बैठा अतुल धन का स्वामी श्रीनाथ।

“श्रीनाथ !” —धीरे-धीरे, दबे-दबे, विस्मय से उभरते-उभरते पुकारा उस सुरमा-सी सुरभित सुरमा ने।

देखा उस ओर श्रीनाथ ने। एक की दृष्टि दूसरे को इस तरह से रिक्त, शङ्कित कर सकती है —इस बात की सत्यता की रक्षा कर रही थी उस दिन की वह सुरमा।

आशङ्का से भरी-भरी वह सिहर उठी—कहाँ है वह रूप-मुग्ध, लाला-यित दृष्टि ? कहाँ, सो कैसे और कब और किसने छिपा ली, कहाँ समा गई वह दृष्टि ? किसने छीन लिया उस दृष्टि को ? कौन-से उजड़े मैदान में गुम हो गई वह दृष्टि ? इन आँखों में इसने कौन-से रक्त-पिपासु राक्षस को बसेरा दे डाला है ?

“श्रीनाथ, आज मैं आई हूँ और एकान्त भाव से तुम्हारी ही होकर रहने के लिए आई हूँ। सुन रहे हो न ?”—तो भी एक निर्लज्ज स्त्री कह ही उठी।

“जाओ।”—जैसे कोई गहरे कूप से कह उठा।

“जाऊँ ? अब ज़रूरत नहीं है मेरी तुमको ?”

“हे।”

“तो ?”

“यह अनन्त पिपासा —”

“अविश्वास कैसा ? उस पिपासा की मैं शान्ति कर दूँगी—प्रेम के कलोच्छ्वास से। सिरहाने बैठी गान सुनाया करूँगी—प्रेम से भरा।”

सहसा वह चीत्कार कर उठी—“श्रीनाथ—श्रीनाथ, यह क्या ?”—उसके विस्फारित नेत्र श्रीनाथ की देह पर आबद्ध हो रहे।

“तुम्हारे रोम-रोम इस तरह से काले क्यों पड़ रहे हैं ? वे सिकुड़ क्यों रहे हैं ? नसों तन क्यों रही है ? नसों नीली क्यों हो रही हैं ?”

“प्यास -प्यास ।”

“प्यास ! इस अतुल धन का स्वामी भी अपने को प्यासा कहे !”

“प्यास—प्यास—प्रतिपल वह बढ़ती जाती है ।”

स्तब्ध हो रही सुरमा—यह कहाँ, वह कौन-से रक्त-पिपासु दैत्य के निकट आ मरी है ?—पल-भर. पल-भर उसने नेत्र उठाकर फिर भी उस ओर देखा, फिर भाग निकली । उसे लगने लगा—उसके अन्तर में बैठी वह पर्दे की आड़ की नारी कहीं उस पिपासा में योग न दे बैठे । कौन जाने, एक हलके परदे की ही तो आड़ है न ।

पुरोहित

चेष्टा करने पर भी वह हँसी को रोक न सकी । भुवनेश्वर की चञ्चल पुत्रवधू घूँघट की आड़ से उस नवीन पुरोहित को देखती जाती और होमकुण्ड की आग को पङ्खे से तेज़ करती जाती थी ।

पति ने आँखें दिखाईं । वधू ने मुँह तो अवश्य ही फेर लिया. किन्तु हँसी न रोक सकी; शायद उसके लिए असाध्य रही हो । उसका हँसी का कारण कहीं हटा तो था नहीं, फिर वह गम्भीर बनती ही कैसे ? वह तेजस्वी ब्राह्मण युवक कुशासन पर बैठा उसी के श्वशुर भुवनेश्वर का श्राद्ध कर रहा था ।

बूढ़े मिश्रजी का छोटा भाई नारायण था—जो कि प्रथम बार ही यजमान के घर आया था, एवं ऐसे दायित्वपूर्ण काम पर बैठा था । कुछ शर्माता, भँपता-सा काम कर रहा था । लोगों की तीक्ष्ण दृष्टियाँ उस पर गड़ी-सी थीं, सहस्रों कान सतर्क थे—उसके विधि-नियम और संस्कृत श्लोकों पर, परन्तु नहीं, भूल-घुटि, अशुद्धि कहीं पर भी कुछ न निकली; नहीं, तिल बराबर भी नहीं ।

स्वास्थ्य-सबल हृदय पर लोटता हुआ वह शुभ्र यज्ञोपवीत का गुच्छा उसके सौन्दर्य को और भी बढ़ा रहा था, सफ़ेद चन्दन का टीका उसके महत्त्व को और नामावली उसकी निष्ठा, श्रद्धा के।

मिश्रजी बीमार थे, सो नारायण ही को यजमान के घर आना पड़ा। शहर के प्रायः सभी लोगों के पुरोहित थे वृद्ध मिश्र ही।

बहू की हँसी का कारण था—वही छोटा-सा पुरोहित। बूढ़े मिसरजी को देखने में अभ्यस्त उसकी आँखें उस लड़के को देख-देखकर परिहास से मचल रही थीं। हाँ, उसके विचार से नारायण था लड़का ही। भला बच्चे भी कहीं पुरोहित बने हैं?—वह विज्ञ भाव से निश्चय पर पहुँच गई—ऐसे बालक भी कहीं—पूजा-पाठ, विधि नियमों को निर्मूल कर सकते हैं? और फिर श्राद्ध!

‘नहीं-नहीं। तो फिर इसे बुलाया ही क्यों? ज़रूर मा के साथ ही साथ वे भी सटिया गये हैं।’

श्राद्ध के बाद ब्राह्मण भोजन होने लगा। सभी लोग बैठे, परन्तु नारायण वहाँ नहीं था।

“आप बैठे नहीं? आइए-आइए।” किसी ने उसे पुकारा।

“मैं घर पर भोजन कर लूँगा।”

“ऐसा क्यों? मिसरजी तक यहाँ भोजन किया करते थे, और ये मिठाइयाँ ब्राह्मणों की बनाई हुई हैं।”

“मैं श्राद्ध का भोजन नहीं करता।”—उसने शान्त भाव से कहा।

लोगों में विस्मय छा गया। कोई परिहास से मचला, कोई व्यङ्ग्य से हँसता। किन्तु वधू इस बार खिलखिला पड़ी।

गृहिणी हाथ जोड़कर खड़ी हो गई—“ऐसा मत करो महाराज। इस दुपहरी में भूखे-प्यासे मत जाओ, वरना गृहस्थ का अकल्याण होगा, आप पुर के हितैषी कहलाते हैं। किससे कौन-सा अपराध हो गया, बतलाइए, मैं उसे दण्ड दूँगी।”

वह लौटा—“अपराध ! नहीं तो । आप हाथ मत जोड़िए । माताजी ! किन्तु मैं श्राद्ध का भोजन नहीं कर सकता ।”

उसके कण्ठ में विस्मय था—“अच्छा, थोड़ा गुड़ दीजिए, मैं पानी पिये लेता हूँ ।”

(२)

तो यह अतिशयोक्ति नहीं थी । नारायण था ही कुछ ज़िद्दी-सा । सुनता वह सबकी, किन्तु करता अपने मन की । संस्कृत के श्लोक उसके कण्ठस्थ थे । वेद, पुराण, उपनिषद् आदि उसकी जपमाला थे । लोगों से वह बहुत कम मिलता, उन्हीं किताबों में उसके दिन-रात कट जाया करते । तभी वह बाहर निकलता, जब कि बाहरी जगत् को उसकी ज़रूरत पड़ती । दुनिया के दुःख, व्यथा में वह प्राण देने को बैठ जाता ।

भाई विरक्त होता—“इस तरह तेरी तबीयत बिगड़ जायगी ।” वह चुपका हट जाता ।

तो उस दिन की उस दुनिया से वह सम्पूर्ण अपरिचित था, सो कुछ विमूढ़-सा भी हो गया था । रहे हैं गृहस्थी में केवल तीन प्राणी—मिश्र, मिश्र-पत्नी नन्दरानी और नारायण ।

“नारायण, तुमने भुवनेश्वर के घर भोजन नहीं किया !”

“जी नहीं ।”

“क्यों ? वे दुखी हो रहे हैं ।”

“श्राद्ध का भोजन करता भी कैसे !”

“श्राद्ध का भोजन क्या पाप है !”

नारायण बहुत कुछ कहना चाहने लगा, किन्तु न जाने क्यों कहा उसने इतना ही कि—“मेरा जी नहीं चाहता ।”

“फिर भी कोई कारण तो होगा । बड़े-बड़े पण्डितों के साथ मैं न जाने कितने ही बार श्राद्ध का भोजन कर आया हूँ ।”

इस बार नन्दरानी कह उठीं—“तुम जो कुछ करो—उसे भी वही करना पड़े, भला यह भी कोई बात है ? अपनी-अपनी रुचि तो है। अच्छा किया भैया, जो तुमने भोजन नहीं किया। मैंने सुना है कि श्राद्ध का भोजन अशुद्ध होता है; क्योंकि उस पर प्रेत की दृष्टि पड़ जाती है।”

मिश्रजी के उच्च हास्यरस से पथचारी तक चौंक पड़े; केवल नारायण गम्भीर हो गया।

“अच्छा, तभी तुमने भोजन नहीं किया ?”

इस बार भी नारायण मौन रह गया।

“मैं ऐसा नहीं कहता कि तुम अपनी इच्छा के विरुद्ध भोजन करो। किन्तु किसी को दुःख देना ब्राह्मणों के धर्म के विरुद्ध है।”

“और यदि धर्म के, रुचि के, विरुद्ध वह काम हो तो किसी को प्रसन्न करने के लिए वह करना ही चाहिए ?”

“अवश्य नहीं। न्याय, धर्म, के लिए यदि प्राण भी चला जाय तो जाने दो, परन्तु धर्मनिष्ठा और सत्य को केवल ब्राह्मण नहीं, मनुष्य मात्र कभी छोड़ नहीं सकता है, यानी छोड़ना उचित नहीं।”

“यदि मेरी आत्मा श्राद्ध के भोजन से मुँह मोड़ ले तो ?”

मिसर हँसे—सरल, उदार हँसी—“वही बात, यानी अपनी भौजी के मत से तुम सहमत हो। यदि ऐसा है, तो तुमने ठीक ही किया।”

“मैं भी कुछ-कुछ जानती हूँ, बिल्कुल अपढ़ नहीं हूँ।” नन्दरानी प्रसन्न हो रही थी।

“तुम न जानेगी ? पुरोहित की सहधर्मिणी ठहरी।”

(३)

फिर भी नारायण की ख्याति से देश भर गया। किसी ने परिहास से मुँह फेरा, किसी ने सम्मान-श्रद्धा से सिर नवाया, कोई कहता—‘वह

घमण्डी छोकरा—जिसके दूध के दाँत भी न गिरे होंगे. वह भला पुरोहित बन भी सकता है ? और फिर श्राद्ध का काम है । मिसरजी की बात निराली है, वे लिखे-पढ़े वृद्ध पण्डित और कहाँ यह छोकरा !”

दूसरा प्रतिवाद करता—“उमर का कम होना ही यदि विद्या नापने की कसौटी हो, तो कहने-सुनने को शेष कुछ भी नहीं बचा । हाँ, मिसरजी निष्ठावान्, सत्यवादी, ऊँचे दिल के आदमी जरूर हैं; परन्तु विद्या में नारायण को नहीं पा सकते । संस्कृत की शिक्षा नारायण की अच्छी ही नहीं, वरन् यों कहा कि उसमें वह पण्डित है ।”

कोई विद्वान् कह उठता—“भाई बाह, बहुत दिनों के बाद उस दिन मैंने यथार्थ ही संस्कृत के श्लोक नारायण के मुँह से सुने । अशुद्धि कहीं कुछ न थी, पहाड़ी भरने की भाँति श्लोक भर रहे थे. मानो सरस्वती उसके कण्ठ में बसी हों । भुवनेश्वर का श्राद्ध देखने की वस्तु थी ।”

बात फैल गई—विजली की भाँति शीघ्रता से । ज़मींदार के घर नारायण की पुकार हुई । बड़े गर्व के साथ मिश्र ने सबसे यह बात कही—“मेरे नारायण को ज़मींदार ने अपनी विधवा लड़की उमा को संस्कृत पढ़ाने के लिए चुना है ।”

उमा पुस्तक खोले उस तेजस्वी सुन्दर गुरु के मुख प्रति निहारती रहती—एक भक्त की भाँति । कदाचित् पुस्तक की लिपि, व्याख्या उसकी समझ में आती न आती । और नारायण पुस्तक में आखिं गड़ाकर अपनी छात्रा को समझाता जाता । पढ़ाते-पढ़ाते कभी वह किताबों में अपने को खो बैठता । देश-काल-पात्र का विचार न रहता और न उस छात्रा ही का । घण्टों बीत जाया करते । विधवा जलपान लेकर जब उसे पुकारती—“पण्डितजी, जलपान कर लीजिए, बारह बज रहे हैं” तब वह चौंकता, विनय से कहता—“दो वक् से ज़्यादा मैं नहीं खाता; चाय नहीं पीता बहन ।”

(४)

“नारायण भैया, परिङ्कत धोखा दे गये । बिरादरी के लोग दरवाज़े पर बैठे हैं । अब हमारी लाज तुम्हारे हाथ ।”

“मुझे क्या करना है, बलदेव मामा ?”

बलदेव ढीमर नारायण के पास गिड़गिड़ा रहा था—“मैं कह तो नहीं सकता भैया, कृपा कर यदि सत्यनारायण की कथा बाँच दो—“ढीमरो के परिङ्कत कोई दूसरे ही थे, उस दिन वे आये न थे ।

“कथा बाँचना है ? तो साफ़ क्यों नहीं कहते ? चलो—चलो । भला उनकी कथा बाँचने में भी कोई इंकार कर सकता है ?”

“तुम वहाँ चले जाओगे तो मेरी दशा क्या होगी भैया ?” कुबेर जैसवारा की बूढ़ी माँ हाथ जोड़कर खड़ी हो गई ।

“मैं जल्दी लौटूँगा, दादी । क्या तुम्हें कुछ जरूरत है ?”

“कुबेर तो चल बसे, अब जवान लड़की का ब्याह कैसे करूँ भैया ? बच्चे और बूढ़े से लेकर कोई आठ आदमी खानेवाले हैं । घास काटकर जो कुछ पाती हूँ—उससे पेट भर दाना भी नहीं मिलता । लड़की सयानी हुई । एक पैसा भी पास नहीं है । रामावतार ने कहा—“नारायण भैया के पास जा, वे कुछ न कुछ कर देंगे ।”

नारायण विचलित हुआ—बेचारी बुढ़िया, किन्तु उसके पास एक कौड़ी भी थी नहीं. तो भी बोला—“तुम घर जाओ दादी, जल्दी हम लोग कुछ प्रबन्ध कर देंगे ।”

नारायण पढ़ा रहा था और उमा पढ़ रही थी ।

“रूपयों का प्रबन्ध कर दूँगा ।”—अपने ही अनजान में गुनगुनाया नारायण ने ।

उमा खिलखिला पड़ी ।

“हँसी क्यों, बहन ?”—विस्मय से नारायण ने पूछा ।

“आप क्या कह रहे हैं ? कैसा प्रबन्ध, किसका रुपया ?”

नारायण अवाक् रह मन में विचारने लगा — “यह नारी अन्तर्यामी है क्या ?”

“मेरे मन की बात तुम कैसे समझी बहन ?

“अभी तो आनहीं कह रहे थे न ।”

“मैं ! होगा भी ।”

“आपको रुपये की ज़रूरत है ?”

“है । उस अकपट, सरल, उत्तर को सुनकर विधवा आनन्दित हुई— कितने रुपये चाहिए ?”—पूछा उमा ने ।

“उससे पूछ लूँ ।”

“किससे ?” उमा का विस्मय सीमा को लाँघ रहा था ।

उमा ने सब बातों का सुना । उसके बाद ! उसके बाद उस शिशु स्वभाव, दयालु पण्डित के प्रति श्रद्धा, भक्ति से उसका हृदय भर उठा ।

“आप इन ज़ेवरों को उसे दे दीजिए ।” उमा ज़ेवरों को उसके सामने रखकर खड़ी थी ।

“बड़ा अच्छा किया, गरीब बुढ़िया ! किन्तु तुम फिर पहनेगी क्या ?” प्रसन्नता से नारायण बोला, उसके हृदय में विचार तक न उठा कि गृहस्वामी के अनजान में उसी की विधवा पुत्री से इस प्रकार का दान लेना अनुचित है ।

वह हँसी—मलिन, व्यथातुर हँसी—“ज़ेवर तो मैं नहीं पहनती, पण्डित जी ।”

नारायण ने छात्रा के प्रति दृष्टि फेरी—हाँ,—इतने दिनों के बाद—ज़ेवर नहीं पहनती ! हाँ, ठीक तो है ।

नारायण लज्जित हुआ—“मैं भूल गया था ।”

“इन्हें आप ले जाइए, उस बेचारी का काम चल जायगा ।”

“ईश्वर पर अचल मति रहे बहन, दरिद्रों पर ऐसी ही दया बनी रहे ।”

(५)

“तुमने ढीमर के घर कथा बाँची थी नारायण !”—मिश्र ने नारायण से पूछा । नन्दरानी आकर खड़ी हो गई ।

“हाँ ।”

“तो क्या हुआ ?”—पूछा नन्दरानी ने ।

“जमींदार के घर गाँव के मुखिया इकट्ठे है । मुझे और नारायण को बुला भेजा है ।”

“क्यों ?”

“शूद्र के घर यजमानी क्यों की—वहाँ का प्रश्न यही है ।”

“तुम वहाँ क्यों गये भैया ! इस वंश में कभी किसी ने शूद्र की यजमानी नहीं की ।” नन्दरानी बोली ।

“भगवान् की लीला सुनने के अधिकारी मनुष्य मात्र हैं, भौजी ।”

“तो शूद्र के घर निष्ठवान् ब्राह्मण क्यों नहीं जाते ?”

“सो तो वही जानें । अपनी रुचि और अपना दृष्टिकोण ।”

“कुछ भी हो । तुम कह देना कि कुबेर के घर नहीं गया ।” नन्दरानी ने कहा ।

“फूट बोलूँगा ।”—नारायण विस्मय से विमूढ़ हो गया । वह धीरे, किन्तु एक विराट् दृढ़ता से, कहने लगा—“और ऐसा कहूँ ही क्यों ? नारायण को पूजने के लिए यदि कोई भी बुलायगा तो चला जाऊँगा ! ईश्वर क्या किसी एक के लोभ में बँधे रहते हैं ! वे सबके हैं, उनकी कथा सुनने का अधिकार सारी दुनिया का है । वे सङ्कीर्ण नहीं—उदार हैं भौजी ।”

“तो तुम वहाँ पर यही सब कहोगे ?”—नन्दरानी विवर्ण मुख से कह चली—“आज तक मिसरजी को इस तरह से बुलाने का साहस किसी को न हुआ था । यह एक प्रकार का अपमान है, नारायण ।”

मधुर हँसकर मिश्र कह उठे—“यही चाहिए, नारायण, सत्य को कभी न छोड़ना, झूठ कभी न बोलना । ज़मींदार के घर मैं नहीं जाता ।”

यह निःस्तब्ध रहा । मिश्र का स्वर पुनः ध्वनित हो उठा —“केवल आज ही के लिए नहीं, किन्तु सदा के लिए, रोकता हूँ नारायण, ज़मींदार के घर कभी मत जाना ।”

“तो बहन को कौन पढ़ायेगा ?” जाते से वह लौटा ।

मिश्र उदासी से हँसे—“तुम जैसे सत्य की जीवित मूर्ति और उमा-सी दया के मूर्त रूप को दुनिया पाप की दृष्टि से देखती है । तुम हो शिशु, वह है प्रवीणा, निष्ठा तुम हो, तो वह है त्याग; ज्ञान तुम हो, वह है बुद्धि और यदि तुम्हारा देवता होना निश्चित है, तो उसका संयम की जीवित मूर्ति होना भी अनिश्चित नहीं है । यह सब कुछ ठीक है, मैं जानता हूँ, मानता हूँ । किन्तु फिर भी कहना पड़ रहा है दुनिया की दृष्टि से यह पाप है,—हाँ, उमा की दया के दान को लोग पाप की दृष्टि से देख रहे हैं, जगत् के विचार से यह केवल प्रेम का खेल है, उसके पिता के भी ! ज़मींदार तुम्हारा भीषण शत्रु बन बैठा है । वहाँ कभी मत जाना ।”

हाथों से मुँह ढाँककर नारायण चिल्ला उठा—मैया-- मैया, बस करो ।”

मिश्र ने उसे हृदय से लगा लिया ।

(६)

रात की गहरी अँधेरी में किसी ने मिश्रजी का दरवाज़ा खटखटाया ।

द्वार खुलते ही ज़मींदार ने आकर मिश्र के पैर पकड़ लिये—“भास्कर की जान बचाओ, मिसर ।”

मिश्र संकट में पड़ गये । वे जानते थे, ज़मींदार का एकमात्र पुत्र किस विपद में पड़ा हुआ है—क्रोध से भास्कर नौकर को मारने के लिए दौड़ा था और दौड़ने की धुन में नौकर खुली छत पर से रास्ते में गिरकर

मर गया। मिश्र, उसी वक्त पुलिस ने भास्कर को पकड़ लिया। पुलिस का कहना था कि नौकर को किसी ने ढकेल दिया और भास्कर का कहना था—कपड़े उठाने जाकर वह धोखे से गिर पड़ा।

फिर भी मिसर ने पूछा—“मुझे क्या करना है?”

“यही कहना है कि उस दिन नारायण के बदले आप उमा को पढ़ाने गये थे, और छत पर धूप में बैठ कर उसे पढ़ा रहे थे—जब कि नौकर कपड़े धूप में डालते-डालते धोखे से गिर पड़ा। किसी ने उसे ढकेला नहीं।”

मिश्र चुप रहे।

“वह मेरा एक ही लड़का है, निरपराध है। हज़ारों की गवाही से जो न होगा, तुम्हारी एक की बात से हो जायगा। तुम्हें कौन नहीं जानता! तुम जैसे सत्यवादी की बात को कोई झूठ नहीं कह सकता। मेरे भास्कर की जान बचाओ। मिसर।”

“मैं झूठ नहीं बोल सकूँगा।” शव की नाई विवर्ण मुख से मिश्र ने कहा।

“वह मेरा एकही लड़का है। तुम्हारी बात से एक की जान बच जायगी। यह अधर्म नहीं—धर्म है।”

“किन्तु तुलसी और गङ्गाजल हाथ में लेकर कोर्ट में मैं झूठ कैसे करूँगा? इसके पीछे मेरी आत्मा मुँह फेर लेगी मुझसे—घृणा और विराग से। तब मैं उस अशुचि आत्मा से देवता की पूजा कैसे करूँगा?”

“तो नारायण को कहने के लिए कह दो।”

“वह कहेगा झूठ! क्या तुम नारायण को पहचानते नहीं हो?”

“परन्तु झूठ कहाँ मिसर? शालिग्राम शिला हाथ में लेकर मैं कह सकता हूँ—वह अपने-आप गिर पड़ा था।”

“निमित्त का भागी भास्कर अवश्य ही है, फिर मैं वहाँ था भी नहीं।” मिश्र ने कहा।

नारायण वहाँ से हट गया ।

× × × ×

“कचहरी में तुम भूठ बोल आये ? तुलसी और गङ्गाजल हाथ में लेकर !”—नन्दरानी के स्वर में विस्मय के साथ ही साथ खेद भी था ।

“हाँ भौजी, मैं ही ।”—नारायण खुशी से भूम-सा रहा था ।

“जवाब दो, नारायण, ऐसा क्यों किया ।” पूछा फिर भी नन्दरानी ने—सो भी एक विचारक की भाँति ।

“निर्दोष की जान बचाने के लिए, भौजी ।”

“तुम सदा के लिए नरक में डूब गये, इसका भी कुछ विचार है ?”

“नरक तो अपने मन में है, परन्तु विस्मय तो यह है, कि आज मुझे खुशी हो रही है—कदाचित् अतुलनीय ही ।”

“नारायण—”

“चलो, भूख लगी है ज़ोर की—भौजी ।”

मिश्र मौनता में उसका मुँह निहारते रह गये ।

लाल लिफाफा

शहर के भीड़ भरे रास्ते में कुन्दकली-सी छोटी लड़की फूल के हार लिये भटकती फिर रही थी । कभी आशा, आग्रह से किसी के पास जाकर खड़ी हो जाती । उस सूखे गेंदे, चमेली के हारों की तरफ से कोई विरक्ति से मुँह फेर लेता, कोई दुतकार देता । अपमान, दर्द से तारा का छोटा सा जी भर उठता, किन्तु फिर भी वह उस जगह से हट न सकती । गिड़गिड़ाती, कहने लगती—“दो माला ले लो बाबूजी, एक ही पैसा दे देना ।”

सन्ध्या की आँधेरी धीरे-धीरे पृथ्वी पर व्यापने लगी । तारा की आँखों में पानी भर आया । दर्द, व्यथा से उसकी छोटी सी छाती भर उठी, बैठ गई वह रास्ते के किनारे—थकी सी, निराश सी ।

किन्तु दूसरे ही पल वह उस खहर पहने हुए युवक की ओर दौड़ पड़ी—“बाबूजी, बाबूजी।” दौड़ी तो तारा ऐसी भी दौड़ी कि तन बदन की सुघ जाती रही।

वही हुआ—जो उस दिन उसको पाना था। साइकिल से टकराकर वह गिर पड़ी, उसके हार चहुँ ओर बिखर गये। कोई दौड़ा—जिसे दौड़ना था। किसी ने देखकर भी न देखना चाहा। कोई दूर ही खड़ा रह गया। शायद एक कौतुक से, एक हँसी से, शायद उत्कण्ठा ही से हो।

किन्तु युवक मनोहर ज़ोर से दौड़ा और शायद उसे गोद में भी उठाना चाहने लगा, किन्तु उस दृश्य के सामने उसे रह जाना पड़ा—विमूढ़ ही। गिरने के दर्द को भूलकर तारा तब तक उन हारों को अनमोल वस्तु की भाँति उठा उठाकर अपनी फटी साड़ी के छोर से झाड़ पोछ रही थी।

“इन हारों को लेकर मुझे दो पैसा दे दो बाबूजी।” उस आग्रह भित्ता के स्वर को सुनकर मनोहर का जी जाने कैसा कर उठा। वह आवाज़ उसके कानों में करुण विलाप-सी गूँजने लगी।

“नहीं लोगे बाबूजी ?”

उस हताशा को सुनकर मनोहर की आँखों में जल भर उठा। उसने पाकेट से एक रुपया निकाल कर बालिका के हाथ पर धर दिया। बालिका ने कृतज्ञता से उसे देखा, फिर चल पड़ी।

विश्व-पथ पर चलने की वेला में कितने ही चित्र ऐसे चलचित्र के समान नित आते जाते रहते हैं, दुनिया के हल्ले में मिलकर कब वह निश्चिह्न हो जाते हैं, उनकी खबर भी रखे तो रखे कौन ? किन्तु फिर भी न जाने क्यों मनोहर के मन में उस दृश्य का करुण चित्र छुप-सा गया। भोजन पर बैठकर बिना कारण ही उसके नेत्र जलपूर्ण हो उठे।

माता ने पूछा—“बेटा, जी खराब है क्या ? खाया कुछ भी नहीं।”

“खा जो रहा हूँ। फिर इतना एक आदमी के लिए बनाना भी क्यों ? खीर, दही, चार-छः तरकारियाँ, पालक की भाजी, पूरी और

मिठाई। रोज़ यही। सब फेंका जाता है। उधर न जाने कितने गरीब भूखों मर रहे हैं और हमारे घर रोज़ खाना फेंका जावे।”

“जिसकी जैसी करनी।”

नरम मिज़ाज का मनोहर गरम हो उठा—“करनी उन ग़रीबों की नहीं, हम अमीरों की कहो। उनकी दी हुई रोटी तो हम खाते हैं और उन्हीं की करनी के विधाता बन बैठते हैं। उनके भाग्य के विधाता न तो आकाश के इन्द्र ही हैं और न वे खुद ही हैं, वरन् हैं हम। हम ही हैं माँ।”

“क्यों मुक्त में चिढ़ता है मुन्ना, कर्मफल ही जीवन का साथी है।”

“भूल, कोरी कल्पना अब तो है संसार में भूठ, डकैती, अत्याचार की जीत। तभी तो मज़दूरों के मुँह की रोटी छीनकर हम सेठ, साहूकार और बड़े-बड़े मिलों के मालिक बनकर बैठे हैं। कर्मफल तो पागल का प्रलाप है।”

“तू कहता क्या है?”

“बस यही कि मेरे लिए एक तरकारी बनाया करो। मेरे गले से ये चीज़ें उतरती नहीं।”

पहले मुझे तीरथ भेज दे मुन्ना, फिर जो जी में आवे सो कर। यह सब मैं देख नहीं सकती, सुन नहीं सकती। अच्छे कपड़े तू कभी पहनता नहीं, किसी तरह वह भी सहती जाती हूँ, किन्तु तेरे सामने मैं रुखी सूखी रोटी नहीं रख सकती।”

मनोहर हँस पड़ा—“किन्तु मेरी आत्मा तो उसी में खुश हागी माँ।”
“तो इतना धन किस काम में आवेगा?”

“काम की कमी ही क्या है? आँखें खोलकर देखें तो सही—काम ही काम पड़े हैं।”

“तो दुनिया को लुटा दूँ?”

“उसी का तो है ही। उसकी चीज़ यदि उसे दे दी जावे तो लुटानी होगी कैसे? और न इससे दुखी ही होना चाहिये।

“न जाने तू क्या बका करता है, खीर तो खा ले।”

“भूख नहीं है माँ ।”

मनोहर उठ पड़ा और माता बड़बड़ाती हुई वहाँ से चली गई । संसार के भले बुरे में मिला हुआ उसका बूढ़ा मन किसी तरह भी लड़के की उन बातों का मानने, पहचानने के लिए तैयार न होता, फिर वे करती क्या ?

(२)

“बाबू जी !”

किन्तु मनोहर उस पुकार को सुनकर ज़रा भी न चौंका, मानो वह उस पुकार ही की प्रतीक्षा कर रहा था । दुकान के सामने मनोहर खड़ा हो गया ।

तारा ने एक छोटी सी पोटली उसके सामने रख दी—“उस दिन तुम भूल से मुझे अधन्ने के बदले रुपया दे गये थे । इसमें साढ़े पन्द्रह आने पैसे हैं ।”

मनोहर विस्मित श्रद्धा से तारा के प्रति देखता ही रह जाता यदि न वह कह उठती—“आज तुम्हारे लिए बेले का हार लाई हूँ बाबूजी ।”

मनोहर बोला—“ऐसे बेला जैसे कि वह बहुत ही आनन्दित हुआ है—बेले का हार ? दे दो । बेला मुझे बहुत पसन्द है । मैंने तो बाज़ार का बाज़ार छान डाला, कहीं भी बेले की माला न मिली । लाओ ।”

उल्लास से तारा नाच सी उठी—“तुम चाहते हो बाबूजी ! तो मैं गेज़ लाया करूँगी ! घर जाकर कह दूँगी ।”

“घर पर कौन-कौन हैं ?”

“माँ और मैं । भैया—मेरे भैया भी ।”

“तुम्हारा घर कहाँ है बिटिया ?”

“वह—उस ओर—ग्राम के नीचे छोटी सी झोपड़ी ।”

“और तुम्हारा नाम ?”

“तारा ।”

“भूलता हूँ, उस दिन कहा था तुमने।”

“पैसे ले लो बाबूजी।”

“नहीं। वे तुम्हारे हैं।”

“एक रुपया पूरा ? किन्तु उन हारों का दाम दो पैसे से ज्यादा नहीं था।”

“परन्तु ठाकुरजी को चढ़ाना था न। इसलिए रुपया से कम के होते भी कैसे ? और आज की माला, लो यह।”

उसने हाथ पसारा, फिर रुपयों को देखकर चौंक पड़ी—“अरे बाप रे, ये तो पाँच रुपये हैं।”

“तुम साड़ी ले लेना।”

“नहीं।”

“क्या नहीं ?”—विस्मय से मनोहर ने पूछा।

“हार के दाम कुल दो पैसे हैं। फिर मुफ्त में ये पाँच कैसे ले लूँ ?”

अपने हाथ से मनोहर ने धीरे-धीरे उसका मुँह उठाया—“तारा, यदि मैं तुम्हारा भाई होता तब ? तब भी न लेतीं तुम रुपये ?”

“तुम—तुम ?”

“हाँ—मैं ही। तू मेरी बहन जो है।”

तारा जवाब कुछ न दे सकी, चुपकी खड़ी उसका मुँह निहारने लगी। और तब उसे और कुछ कहने सुनने का वक्त न देकर मनोहर जल्दी-जल्दी चल पड़ा। उन रुपयों के लिए तारा सोचती विचारती घर की ओर मुड़ी।

उस दिन रास्ते के इस ओर खड़ा था मनोहर और उस ओर थी वह छोटी लड़की। उस बूढ़े पोस्टमैन से वह बार-बार आशा, आग्रह से पूछ रही थी—“क्या मेरी चिन्ही सच ही नहीं है ?”

और वह वृद्ध हँसकर कह रहा था—“नहीं है तारा, अगर होती तो मैं देता नहीं ?”

और इसके बाद तारा के कातर स्वर का करुण विनय मनोहर के कानों में पहुँचा—“भाले में तुम अच्छी तरह से ढूँढ़कर देखो पोस्टमैन, ज़रूर चिट्ठी होगी।”

मनोहर ने देखा पोस्टमैन वहीं पर बैठ गया और पीठ पर की थैली को उड़ेलकर दिखलाने लगा—“देखो तारा, है कहीं ?”

इसके बाद पोस्टमैन चला गया और तारा ?

वह वहीं पर खड़ी रह गई—एक सन्तान-विधुरा माता की तरह।

धीरे-धीरे मनोहर चलकर उसके पास पहुँचा—“तारा, क्या तुम्हारी चिट्ठी नहीं आई ?”

“नहीं।” -वह रो पड़ी।

तारा को चुप होने में देर लगी।

“किसकी चिट्ठी ढूँढ़ रही थीं तुम ?”

“मेया की। साल भर में बस उनकी वही तो एक चिट्ठी आई थी।”

“कहाँ पर हैं वह ?”

“बहुत दूर तुम नहीं समझोगे बाबूजी।”

“ऐसा।” बहुत ही कौतुक, आनंद से मनोहर ने पूछा—“तो कितनी दूर ? अगर तुम समझा दो, तब भी न समझूँ क्या ?”

इस बार बालिका विज्ञाभाव से बोली—“अच्छा मैं समझाती हूँ। सात समुन्दर जानते हो ? वे बड़े-बड़े समुन्दर—जहाँ बड़ी-बड़ी नावें चला करती हैं। बस उन्हीं सात समुन्दरों के उस पार वे गये हैं।”

“वहाँ किसलिए गये हैं तारा ?”

“हमारी रक्षा के लिए। वहाँ वे लड़ाई करते हैं।” और फिर वह बालिका अकड़कर कहने लगी—“अगर वे न जाते तो हम सब कब के मर गये होते और तुम भी। वे बड़े वीर हैं। घोड़े पर चढ़ते हैं, बन्दूक चलाते हैं।”

अच्छा, तब तो बड़े भारी वीर हैं, लड़ाका हैं। उनके जाने के बाद एक ही चिट्ठी आई थी ?”

“हाँ, और कुछ रुपये, चलो न बाबूजी, तुम्हें वह चिट्ठी दिखलाऊँ, तो तुम पढ़ सकते हो।”

हँसी को रोककर मनोहर बोला—“यों ही थोड़ा पढ़ लेता हूँ। तुम पढ़ सकती हो?”

“नहीं।” दर्दीली आवाज़ से वह बोली।

भोपड़ी में पहुँचकर तारा पुकारने लगी—माँ, जल्दी आओ, बाबूजी आये हैं।”

एक बूढ़ी स्त्री निकल आई, आदर से मनोहर को बैठाया, बोली—“बेटा, तुमने तारा को...।” “कुछ नहीं माँ। आप क्यों शर्माती हैं? वह मेरी बहन है, भाई की चीज़ पर बहन हक़दार नहीं होती क्या?”

माता चुप रह गई, उनकी आँखों में कृतज्ञता थाप गई। तब तक तारा अपनी छोटी सी सन्दूक लाकर सामने रख चुकी थी और ताला खोलने में लगी थी। ताला खुलने के बाद निकला वह लाल लिफाफा—रेशमी कपड़े में लिपटा हुआ। माता ने मलीन हँसकर कहा—“इसकी बातों पर कुछ ध्यान न देना बेटा, वह पगली है। सभी को बुलाकर चिट्ठी दिखलाती है।”

किन्तु तब उन बातों की ओर तारा का ध्यान बिलकुल नहीं था, वह तब तक लिफाफे में से पत्र निकालकर पढ़ने में लग पड़ी थी।

मनोहर विस्मय से देखने लगा—पत्र के हर एक अक्षर को वह अपढ़ बालिका निर्मूल पढ़ने लगी।

“तुम तो कहती थीं पढ़ना लिखना कुछ भी नहीं जानती, तो इसे पढ़ किस तरह रही हो?”

“इस चिट्ठी को मैं पढ़ सकती हूँ।”

माता बोली—“वह पढ़ी लिखी नहीं है भैया। इस चिट्ठी के हर एक अक्षर उसे याद हैं।”

मनोहर चुप रहा। उस श्रद्धा, उस प्रेम, उस एकाग्रता और साधना के सामने वह अपनी सुध भूला सा बैठा रह गया।

(३)

दिन का पूरा हिस्सा मनोहर का एक सपने के भीतर से निकल गया ।
 उसकी माँ विस्मित हुई । पूछा—“तुम्हें आज क्या हो गया है ?”
 वह कुछ न बोला ।

दिन टलते ही वह व्यग्र चरणों से चल पड़ा -- हाँ, उसी ओर ।
 दरिद्र मुहल्ले के पास पहुँचकर उसके चरण अचल से हो रहे । वह
 छोटी लड़की दौड़ती चली जा रही थी । उसके छोटे-छोटे रूखे बाल
 हवा में उड़ रहे थे । दौड़ने के साथ ही साथ वह चिल्लाती भी जाती
 थी -- “पोस्टमैन, पोस्टमैन, भैया की चिट्ठी देते जाओ ।”

मनोहर ने विस्मय से देखा पोस्टमैन का कहीं पता तक नहीं था ।

“तारा ।”

पुकार सुनकर वह रुका ।

मनोहर जब पहुँचा, तब वह हाँफ रही थी । मनोहर ने स्नेह से
 उसके सिर पर हाथ फेरा—“किसे पुकार रही थी ?”

“पोस्टमैन को । मैंने घर में पड़े-पड़े उसे जाते देखा था । न जाने
 किधर निकल गया ।”

“यदि चिट्ठी आती तो वह ज़रूर देता ।”

“तुम जानते नहीं हो बाबूजी, चिट्ठी ज़रूर रहती है । इतने दिन
 तक चिट्ठी न लिखकर भैया रह भी सकते हैं ?”

“तो ?”

“वे चिट्ठियाँ उसके भोले में कहीं गुम हो जाती होंगी, या तो कोई
 चुरा लेता होगा ।”

उस अन्धविश्वास के सामने मनोहर को चुप रह जाना पड़ा ।

तारा कहने लगी -- “किन्तु कब तक वे चोरी जायँगी ? एक दिन
 उसकी सब चिट्ठियाँ मुझे मिल जायँगी ? तुम देखना बाबूजी । ज़रूर
 मिलेंगी । चाहे जब मिलें; किन्तु एक दिन मिलेंगी ही ।”

मनोहर सुन रहा था और तन्मय होकर सुन रहा था । उसके माथे पर हाथ धरकर वह चौंक पड़ा—“तुम्हें तो ज़्यादा बुखार है तारा ।”

अवहेलना से वह बोली—“हाँ, दो दिन से बुखार है ।”

“और तुम दौड़ती फिरती हो ?”

“पड़ी तो थी ।”

“चलो तुम्हें घर पहुँचा दूँ ।”

(४)

दूसरे दिन प्रातःकाल ही मनोहर तारा के घर पहुँचा । मुट्ठी भर मुर-भाई चमेली सी वह बिस्तर पर पड़ी थी ।

फलों को रखकर मनोहर ने पूछा—“अब जी कैसा है तारा ?”

लाज आँखें खोलकर वह बोली—“अब अच्छी हूँ ।”

माता आँखू पोंछने लगी—“नहीं बेटा, कल से यह न जाने क्या-क्या बक रही है ।”

“घबराओ नहीं माँ, अभी मैं डाक्टर को लाता हूँ । यह फल, हार-लिक्स मिल्क आदि तारा के लिए है । कुछ साड़ियाँ भी हैं माँ ।”

माता ने वह बगडल खोला । साड़ियाँ निकालकर बोली—“देख तारा, तेरे भाई तेरे लिए कैसी अच्छी साड़ियाँ लाये हैं ।”

वह उठकर बैठ गई—“कहाँ है ? लाओ मेरी चिठ्ठी दे दो ।” अधिक उत्तेजना से उसके मुख की रेखाएँ फूल रही थीं ।

“चिठ्ठी नहीं है बिटिया, साड़ियों को देखो ।”

निराश व्यथा से उसने मुँह फेर लिया, लेट रही । मनोहर को लगा—बड़ी कठिनाई से वह उस निराशा को अपनी छाँटी सी छाँटी के भीतर सँभालने की कोशिश कर रही है ।

यह नीख, केवल सिरहाने की घड़ी टिकटिकाने लगी ।

देर के बाद वह बोली—“आवेगी चिठ्ठी —ज़रूर आवेगी ।”

माँ की आँखों में पानी भर उठा ।

मनोहर धीरे-धीरे निकल गया ।

डाक्टर के साथ मनोहर को आते देखकर माँ ने पुकारा— “तारा ।”

किन्तु किसी ने जवाब न दिया ।

तारा के हृदय की परीक्षा करते समय डाक्टर विस्मित हुआ । एक लिफाफे को तारा छाती पर चिपकाये थी । उस लिफाफे के इतिहास को भोपड़ी के दो व्यक्ति भली भाँति जानते थे । तीसरा था डाक्टर— जो कि एकदम अनजान था ।

डाक्टर ने पूछा—“यह ऐसी कौन सी अनमोल चीज़ है जिसे कि बच्ची इस तरह छाती में दबाये हुए है ?”

जवाब देने जाकर भी माता न जाने क्यों चुप हो रही और मनोहर ने मुँह फेर लिया—कौन जाने किसलिए ।

(५)

अन्त में एक दिन पुकारा— उस बन्द दरवाज़े पर पोस्टमैन पुकार ही तो उठा—“चिट्ठी है बाई ।”

विस्तर पर पड़ी तारा खुशी से मचल सी पड़ी । माता से उस बड़े लिफाफे को हाथ में लेकर तारा ध्यानस्तब्ध नेत्रों से उसे देखने लगी । चिट्ठी खोली गई—इसलिए कि उसे खोलना ही था । पढ़ना ? किन्तु पढ़ता कौन ! वह दोनों अपढ़ थीं ।

छोटा पत्र था और कुछ नोट— दस-दस के ।

पत्र सुनने के लिए माता अधीर होने लगी । किन्तु अधिक आश्चर्य तो यह है कि तारा चुप हो रही । न वह चिट्ठी सुनने के लिए उतावली थी, न रुपये ही गिनना चाहती थी । उसकी साधना की सिद्धि तो मिल चुकी थी न, भाई की चिट्ठी आखिर पहुँच ही गई फिर दुनिया से उसे मतलब ?

मनोहर धीरे से आकर बैठ गया ।

माँ ने कहा—“बेटा, पहले चिट्ठी पढ़कर सुना दो ।” मुसकराकर उसने पत्र के लिए हाथ बढ़ाया—“चिट्ठी दे दो तारा ।”

किन्तु पत्र देने का प्रयास न कर तारा बोली—“मेरे मैया की चिठी है।”

“जानता हूँ, आओ. मैं पढ़कर सुनाऊँ।”

“कहती थी न बाबूजी, वे चिठी लिखेंगे ही, चाहे जब हो।”

माता भुँभुला पड़ी—“चिठी दे तारा, मेरी जान निकली जा रही है।”

उसके ध्यान की तन्द्रा टूट गई—हाँ—इतनी देर के बाद। कमज़ोर हाथों से उसने चिठी को अपने हृदय से अलग किया।

पत्र पर दृष्टि पड़ते ही मनोहर का मुख विवर्ण हो उठा। यद्यपि वह जानता था कि दो जोड़े उत्सुक, व्याकुल नेत्र उसी के मुख पर आवद्ध हैं, किन्तु फिर भी वह अपने को सँभाल न सका। उसके काँपते हुए हाथों से चिठी ज़मीन पर गिर पड़ी।

आया था—तारा की आशा, आनन्द, ध्यान का शिव इतने दिनों के बाद उसके द्वार पर आया था, उसकी साधना की सिद्धि बाँह बढ़ाये खड़ी थी, उसका पत्र?—हाँ, उसकी तपस्या का पत्र, वह पत्र आया था।

किन्तु वह छोटी बालिका कैसे जानती कि कभी एक दिन की खुश-ख़बरी देनेवाला, कभी एक दिन दुख की ख़बर भी भरकर लावेगा?

माता रो पड़ी—“मैया, मेरा राम, मेरा लाल अच्छा है न?”

तारा कुछ न बोली, केवल आँखें फाड़-फाड़कर उसे देखने लगी।

ज़िन्दगी में ऐसी परिस्थिति में मनोहर शायद ही कभी पड़ा हो। कितनी ही बार स्वदेश के लिए वह जेल गया, कितनी ही बार कितने व्यक्तियों से संघर्ष हुआ, किन्तु वैसी स्थिति उसके जीवन में थी पहली और थी नहीं।

फिर वह उन दोनों से कहता भी तो कहता क्या? वे दोनों आँसू की नदी में डूब ही क्यों न जावें, फिर भी वह उन्हें उनके बच्चे का कुशल सुनाता कैसे?

कौन जानता था उस बन्द लिफाफे में जीवन की हरियाली मौत की काली कोठरी में बन्द हो जावेगी? किन्तु फिर भी वही था—नग्न सत्य

“मेरा राम क्या—” माता हाहाकार कर उठी ।

मनोहर ने एक बार उन दोनों को देखा, फिर कहा—“वे अच्छे हैं ।”

“अच्छा है ! मेरा लाल अच्छा है ! कब आने को कहा है !”

“मेरी चिट्ठी ।” तारा ने हाथ उठाया ।

मनोहर ने उसके हाथ पर पत्र रख दिया, पहले के लाल लिफाफे के साथ उसने इस लिफाफे को भी हृदय से लगा लिया ।

और मनोहर एक साधक की तरह उन मौत और ज़िन्दगी के वार्ता-वहों के आलिङ्गन को विस्फारित नेत्रों से देखने लगा ।

वे दो लिफाफे उसकी छोटी छाती पर इस तरह से लिपटे पड़े थे— मानो वह दोनों जन्म-जन्मान्तर के परिचित हों ।

और इसके बाद ! इसके बाद शायद उस लाल लिफाफे की खुशी के आँचल में उस बड़े लिफाफे ने अपना आँसू बहा दिया हो या धरोहर रख दिया हो, या तो — या तो — शायद — कौन जाने — लिफाफे के मन की बात ।

बेकारी का भूत

जङ्गल के हृदय से शायद उन्मत्त आँधी उस दिन चल पड़ी थी — पृथ्वी को त्रस्त, ध्वस्त, मथित करने के लिए । और आकाश के करोड़ों भरोखे थे खुले । स्वर्ग के प्रवेश-द्वार में न उस दिन अप्सरियों के नूपुर की झङ्कार थी, न विद्या-धरियों का कलहास्य । था केवल आँधी में एक उन्मत्त छन्द और भैरव-से गम्भीर गर्जन के साथ भरती हुई वर्षा का झञ्झावाद्य ।

वर्षा में दलित, कदमाक्त युवक आँधी के छन्द से समता रखे हुए पहुँच गया डाक्टर नाग के ड्राइङ्ग रूम में ।

“मेरी बीमारी का इलाज क्या आपके पास भी नहीं है ?”

युवक के उस उन्मत्त स्वर से शायद वृद्ध, विज्ञ चिकित्सक के अन्तस्तल में कण्ठ, या तो विस्मय की सृष्टि हुई । हाथ का दैनिक

पत्र हटाकर नाग सीधे होकर बैठे। तीक्ष्ण दृष्टि से युवक को देखा, फिर मुसकराकर बोले—“धीरज धरो, बैठो, कहो क्या बीमारी है?”

“मुझे?” युवक उतावली से कहने लगा—“मेरे शरीर में, मेरे मन में वह बोझ-सा दबा रहता है।”

“कौन?”

“वही। भूत मानते हैं आप?”

“भूत?”—डाक्टर जोर से हँसे। कहने लगे—“भूत? और तुम जैसे होनहार युवकों का—”

“होनहार? किन्तु मैं क्या करूँ? दुनिया की हवा में जो वह बसा हुआ है। मेरा श्वास रुक रहा है डाक्टर, मुझे बचाओ।”

चिकित्सक उठकर युवक के निकट पहुँचे। उसकी भली भाँति परीक्षा की, कहा—“तुम्हें कोई रोग नहीं है। कभी डर गये थे?”

“नहीं। आप समझें नहीं डाक्टर। इस बोझ के भार से मैं दबा जा रहा हूँ। मेरा खून तिल-तिल में सेर-सेर भर सूख रहा है। इस तरह मैं जीऊँगा कैसे?”

डाक्टर स्निग्ध हँसे “परन्तु खून सूखने का चिह्न कहीं भी नहीं है। खून तुम्हारा बढ़ रहा है युवक, घबराओ मत। और बोझ वैसा?”

“एक बोझ है, बस बोझ ही।”

“क्या शरीर में कहीं पर दर्द है? बेचैनी है?”

“दर्द? शायद यह दर्द ही है। और बेचैनी? किन्तु हृदय तो उस बोझ के नीचे दबता जा रहा है, फिर चैन और बेचैन का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है?”

“कई बार तुम बोझ कह चुके। पूछता हूँ कि कैसा बोझ, किसका बोझ? साफ़ कहो।”

“उसी का। मुझे इसके हाथ से बचाओ डाक्टर।”

डाक्टर विस्मय से हतवाक् हो रहे।

सहसा युवक चिल्ला पड़ा —“बचाओ-बचाओ, यहाँ पर भी वह पहुँच गया। वह पत्थर-सा भारा होकर मेरी नसों को दबा रहा है। मेरे जीवन की स्फूर्ति उस बोझ के नीचे दब मरी है। बचाओ मुझे।”

एक-दो-तीन मिनट गम्भीर निःस्तब्धता के भीतर से कटे। और उन्हीं अतीत मिनटों के साथ डाक्टर के नेत्रों के विस्मय के स्थान पर एक कौतुक ने अधिकार कर लिया। पूछा —“तुम्हारी दिन-चर्या क्या है ?”

“दिन-चर्या ! बस इसी भूत की सेवा करना।”

“अधीर युवक घबराओ नहीं। अपने पर विश्वास करो. मनुष्य-शक्ति के निकट और सब तुच्छ है। वास्तविक जीवन उसी मनुष्य-शक्ति में बसा हुआ है, जीवन के हर जटिल और सरल पहलू को वीरता से जीतना जीने का उद्देश्य है। भूत-प्रेत की भावना शक्ति का अपचय करना है। उतावलापन और हताशा है कापुरुष की कोरी कल्पना। यदि वास्तविक जीवन से परिचय करना चाहते हो, तो उस ताकत को खोज निकालो।”

डाक्टर के वाक्य में क्या रहा, सो डाक्टर ही जाने; किन्तु ऐसे सहसा युवक शान्त हो गया और विचार के साथ बातें करने लगा कि जिसे देवकर वृद्ध चिकित्सक को स्वयं ही विस्मित होना पड़ा।

“मैं अब बिलकुल अच्छा हूँ डाक्टर, आपको तकलीफ देने के लिए माफ़ करें।”

इसके बाद वह गुनगुनाकर कहने लगा —इस तरह, जैसे वह अपने-आपको पाठ दे रहा हो, सुना रहा हो —“वास्तविक जीवन मनुष्य-शक्ति में ही बसा हुआ है, जीवन के हर पहलू को वीरता से जीतना जीने का उद्देश्य है।”

“बाबूजी, भोजन तैयार है।” —द्वार का परदा हटाकर एक मुरूप तरुणी कमरे में पहुँच गई। और जब कि वह लौटकर जाना चाहने लगी तब डाक्टर ने कहा —“मालिनी. नये रोगी को देखा तुमने ? आप प्रेत के बोझ से दबे जा रहे हैं।” वृद्ध के मुँह में परिहास की हँसी थी।

मालिनी जाते से रुकी. एक ने दूसरे को पूर्ण दृष्टि से देखा. दोनों की चौंक चिकित्सक की दृष्टि से छिपी ही रह गई ।

सहज स्वर से मालिनी बोली —“इनसे मेरा परिचय है बाबूजी ”

“यह तुम्हारे परिचित हैं ?”

“हाँ. हम दोनों ने साथ ही बी० ए० और एम० ए० पढ़ा था । यही तो सुधीर बाबू हैं ।”

डाक्टर के नेत्र विस्मय से विस्फारित हुए । और दूसरे पल स्नेह, सहानुभूति की छाया उन नेत्रों पर पड़ गई—“ऐसा ! अच्छा-अच्छा । बेटी—इन्हें चाय—”

तब तक सुधीर उठकर खड़ा हो गया—“नमस्कार डाक्टर ।” और किसी के कुछ कहने से पहले निकलकर चल दिया । मालिनी जिस द्वार से आई, उसी से चल दी ।

उन्मत्त आँधी तब शान्त हो चुकी थी, वर्षा की नन्हीं बूँद धरती पर चूरही थीं ।

(२)

“सुधीर, कब तक यहाँ बैठे रहोगे ?” विमल ने पूछा ।

उस बृहत् आफ्रिस के कमरे में कर्मप्रार्थियों के साथ सुधीर भी बैठा हुआ था ।

“मैं ?”—इस विस्मय और उतावली के साथ कह उठा सुधीर. जिसे सुनकर विमल को कम विस्मित न हो जाना पड़ा ।

“वही तो पूछ रहा हूँ । हम अभागों के साथ तुम भगवान् यहाँ कैसे पहुँचे ?” देर के बाद कहा विमल ने ।

“अभागे कौन ? तुम ? किन्तु क्यों ?”

विमल उदास हँसा—“क्योंकि हम सबके सब कर्मप्रार्थी हैं, एक आफ्रिस से दूसरे में धक्के खाते फिरते हैं—वर्षों से ।”

“बस यही दशा मेरी भी है, मैं भी बेकार हूँ भाई ।” एक व्यक्ति कह उठा ।

सुधीर ने इस तरह चुप्पी साध ली, मानो वह बात करना जानता ही न हो ।

“और आप ?”—पूछा एक दूसरे ने ।

“यह बेकार नहीं—चित्रकार हैं ।” उत्तर दिया विमल ने ।

चित्रकार ! सुधीर का जी खेलकर हँसने को जी चाहने लगा और विस्मय तो इतना ही है कि फिर भी वह चुपका चुप ही रहा ।

कहने लगा विमल—“बड़े घर का लड़का है, उस पर चित्रकार, काम-काज करने की ज़रूरत ही क्या ! घर का अकेला मालिक, बैठा-बैठा चित्र बनाया करता है । चित्र अखबारों में छापने को क्यों नहीं भेजते सुधीर ?”

सुधीर का जी व्याकुल क्रन्दन से भर आया, इस कल्पित सम्मान के सामने कैसे कह दे वह अपनी असफलता की कथा ! कैसे कहे अपने दुख की कहानी ! महल-सी अट्टालिका कर्ज के भार से नीलाम होने को है, विधवा माँ, अविवाहिता बहन विधवा बड़ी बहन—उनके बच्चे को भरोपेट भोजन भी नहीं मिलता, स्वयं प्रायः अनशन करके नौकरी की तलाश में मारा मारा फिरता है । और चित्र ! किन्तु पत्र के सम्पादक-गण उन चित्रों को आवर्जना के स्तूप में किस तरह से फेंक दिया करते हैं—उन बातों को इस राज-सम्मान के आगे कहे भी कैसे ?

“क्यों सुधीर, देते क्यों नहीं ?”—मित्र ने अपना प्रश्न दुहराया ।

और सुधीर ! किन्तु वह पहले क्या जानता था कि एक मिथ्या सम्मान को ही कभी रन्ध्रहीन मिथ्या के आश्रय ही में गौरवान्वित करना पड़ेगा !

“पत्रों में चित्र देने का अर्थ कला का खून करना है ।”—एक आच्छन्न वन्या के भीतर से कह उठा सुधीर ।

सम्मान-श्रद्धा से मानो श्रोतागण भर उठे—“बिल्कुल ठीक, वास्तविक कलाकार की कला का प्रचार स्वयं हो जाता है ।”

“यहाँ कैसे आये ?” विमल ने पूछा ।

“यों ही ।” सुधीर उठकर खड़ा हो गया ।

“बैठो न, जल्दी क्या है ।”

“चार बज रहे हैं, सेठजी के घर जाना है । लड़की पेन्टिङ्ग सीखती है ।” बड़ी कठिनाई से उसे सेठजी के घर पन्द्रह रुपये मासिक की नौकरी तभी-तभी मिली थी ।

“बड़े घर के आप लड़के हैं, मेरा भी कहीं कुछ ठिकाना लगा देना । मैं बेकार हूँ ।” —कहा एक ने ।

बेकार ! सुधीर के कान के पर्दे मानो फटे पड़ने लगे । भूतग्रस्त की भाँति वह उठकर भागा ।

राजपथ से जनता एक-सी चलती, नित की घड़ियाँ कटती जाती ।

सुधीर अनमना-सा लाइटपोस्ट के नीचे खड़ा था । जी उसका विषाक्त क्रन्दन से भरा हुआ था । उसके खुले नेत्रों के सामने कार्य की मादकता थी । बेभ्रम-भार से दबते हुए कुली मजदूर चले जा रहे थे ; आफ्रिस के बाबू भागते चले जा रहे थे । केगनी-वृन्द उड़ते-से जाते थे । मिखारी भाँख माँग रहे थे । गाय दुकान पर रखी दाल की टोकनी में मुँह मार रही थी । ट्राम, बसें सनसनाती आ-जा रही थीं । फेरीवाले पुकार-पुकारकर सौदा बेच रहे थे । चारों ओर कर्म की व्यस्तता थी । और उस कर्म-व्यस्तता के भीतर सुधीर घबरा उठा । उन्मादियों सा वह भाग जाना चाहने लगा । किन्तु सहसा उसकी दृष्टि पड़ गई ठीक सामने—कई व्यक्ति अखबार के ‘कर्म खाली’ स्तम्भ को मनोयोग से देखने में लगे हुए थे । जाने क्यों सुधीर के जी में ज़रा-सा सन्तोष आया । डाक्टर के वे वचन स्मरण हो आये—अपने पर विश्वास करो । मनुष्य-शक्ति के निकट और सब तुच्छ है ।

(३)

भागा-भागा सुधीर सेठ के घर पहुँचा । उसकी छात्रा माया रङ्ग-तूलिका लिये बैठी हुई थी । अव्यवस्थित चित्त से सुधीर पहुँच गया ।

“बस यही दशा मेरी भी है, मैं भी बेकार हूँ भाई ।” एक व्यक्ति कह उठा ।

सुधीर ने इस तरह चुप्पी साध ली, मानो वह बात करना जानता ही न हो ।

“और आप ?”—पूछा एक दूसरे ने ।

“यह बेकार नहीं—चित्रकार हैं ।” उत्तर दिया विमल ने ।

चित्रकार ! सुधीर का जी खेलकर हँसने को जी चाहने लगा और विस्मय तो इतना ही है कि फिर भी वह चुपका चुप ही रहा ।

कहने लगा विमल—“बड़े घर का लड़का है, उस पर चित्रकार, काम-काज करने की ज़रूरत ही क्या ! घर का अकेला मालिक, बैठा-बैठा चित्र बनाया करता है । चित्र अखबारों में छापने को क्यों नहीं भेजते सुधीर ?”

सुधीर का जी व्याकुल क्रन्दन से भर आया, इस कल्पित सम्मान के सामने कैसे कह दे वह अपनी असफलता की कथा ! कैसे कहे अपने दुख की कहानी ! महल-सी अट्टालिका कर्ज के भार से नीलाम होने को है, विधवा माँ, अविवाहिता बहन विधवा बड़ी बहन—उनके बच्चे को भण्डे भोजन भी नहीं मिलता, स्वयं प्रायः अनशन करके नौकरी की तलाश में मारा-मारा फिरता है । और चित्र ! किन्तु पत्र के सम्पादक-गण उन चित्रों को आवर्जना के स्तूप में किस तरह से फेंक दिया करते हैं—उन बातों को इस राज-सम्मान के आगे कहे भी कैसे ?

“क्यों सुधीर, देते क्यों नहीं ?”—मित्र ने अपना प्रश्न दुहराया ।

और सुधीर ! किन्तु वह पहले क्या जानता था कि एक मिथ्या सम्मान को ही कभी रन्ध्रहीन मिथ्या के आश्रय ही में गौरवान्वित करना पड़ेगा !

“पत्रों में चित्र देने का अर्थ कला का खून करना है ।” — एक आच्छन्न वन्या के भीतर से कह उठा सुधीर ।

सम्मान-श्रद्धा से मानो श्रोतागण भर उठे—“बिल्कुल ठीक, वास्तविक कलाकार की कला का प्रचार स्वयं हो जाता है ।”

“यहाँ कैसे आये ?” विमल ने पूछा ।

“यों ही ।” सुधीर उठकर खड़ा हो गया ।

“बैठो न, जल्दी क्या है ।”

“चार बज रहे हैं, सेठजी के घर जाना है । लड़की पेन्टिङ्ग सीखती है ।” बड़ी कठिनाई से उसे सेठजी के घर पन्द्रह रुपये मासिक की नौकरी तभी-तभी मिली थी ।

“बड़े घर के आप लड़के हैं, मेरा भी कहीं कुछ ठिकाना लगा देना । मैं बेकार हूँ ।”—कहा एक ने ।

बेकार ! सुधीर के कान के पर्दे मानो फटे पड़ने लगे । भूतग्रस्त की भाँति वह उठकर भागा ।

राजपथ से जनता एक-सी चलती, नित की घड़ियाँ कटती जाती ।

सुधीर अनमना-सा लाइटपोस्ट के नीचे खड़ा था । जी उसका विषाक्त क्रन्दन से भरा हुआ था । उसके खुले नेत्रों के सामने कार्य की मादकता थी । बेभ्र-भार से दबते हुए कुली मजदूर चले जा रहे थे ; आफ्रिस के बाबू भागते चले जा रहे थे । केगनी-वृन्द उड़ते-से जाते थे । मिखारी भीख माँग रहे थे । गाय दुकान पर रखी दाल की टोकनी में सुँह मार रही थी । ट्राम, बसें सनसनाती आ-जा रही थीं । फेरीवाले पुकार-पुकारकर सौदा बेच रहे थे । चारों ओर कर्म की व्यस्तता थी । और उस कर्म-व्यस्तता के भीतर सुधीर घबरा उठा । उन्मादियों सा वह भाग जाना चाहने लगा । किन्तु सहसा उसकी दृष्टि पड़ गई ठीक सामने—कई व्याक्त अखबार के ‘कर्म खाली’ स्तम्भ को मनोयोग से देखने में लगे हुए थे । जाने क्यों सुधीर के जी में ज़रा-सा सन्तोष आया । डाक्टर के वे वचन स्मरण हो आये—अपने पर विश्वास करो । मनुष्य शक्ति के निकट और सब तुच्छ है ।

(३)

भागा-भागा सुधीर सेठ के घर पहुँचा । उसकी छात्रा माया रङ्ग-तूलिका लिये बैठी हुई थी । अव्यवस्थित चित्त से सुधीर पहुँच गया ।

“आइए सर ।” तरुणी ज़रा-सा मुसकराई

एक दूसरे के सामने बैठे ।

“आपकी तबीयत आज खराब है क्या ?”

“नहीं —हाँ—जाने यह कैसा बोझ-सा दबा है ।”

“कहाँ ?” विस्मय से माया ने पूछा ।

और तब सुधीर की दृष्टि स्वच्छन्द हास्य से भर उठी । दृष्टि पड़ गई थी उसकी माया के बनाये हुए उस अधूरे चित्र पर ।

“वाह-वाह, तुम तो शिल्पी बन गई हो माया । मुझे आशा न थी कि ऐसी जल्दी तुम इतना सीख लोगी । केवल एक वह थी — जिसने ऐसा ही तत्परता से मेरी तूलिका की रङ्ग-रेखा को छीन लिया था ।”

“कौन ?”—माया के स्वर में एक उतावलापन था ।

“वही ।” अनमना सुधीर कह उठा ।

“कौन सर ?” उतावलेपन से मानो माया की साँस रुकने को हो रही थी ।

“वही । व्यवधान की कल्पना तो हमारे मन में थी ही नहीं, सो हम दोनों निकटतर होते गये थे ।”

“फिर ?” रुद्ध श्वास से वह स्वर अस्वाभाविक हो गया । आर्त, रुधिराक्त-सा माया का वह स्वर कमरे के कोने-कोने में माथा पीटता फिरने लगा—कहो-कहो, देर क्यों कर रहे हो ? फिर, फिर क्या ?

“उसके बाद । शायद मेरे आचरण को वह समझी प्रत्याख्यान, मेरे इस बेकारी के बोझ से दबे हुए अन्तर के प्रति उसने देखना नहीं चाहा न, और शायद चाहें हों, कहा तो कुछ भी नहीं जा सकता है ठीक-ठीक ।”

“नहीं देखना चाहा ?”

“नहीं ।”

“तब ?”

“वही तो एक बात है । उसका कहना है—” सहसा सुधीर सेते से जाग सा पड़ा—“लाओ, चित्र को पूरा करो ।”

किन्तु माया ने उठने का नाम भी न लिया, उपरान्त कहने लगी—
“और यदि मैं कहूँ सुधीर बाबू।”

उसका वचन अर्द्ध-समाप्त रह गया। सेठजी पहुँच गये—“देखो मास्टर, किसे लाया हूँ। राजा साहब हैं। आप चित्र के बड़े शौकीन हैं। तुम्हारे चित्र इन्हें पसन्द आये। एक-एक चित्र पर सौ-सौ रुपये मिहनताना मिलेगा, समझे न मास्टर ! राज़ी हो ?”

सुधीर मानो मरते से जी उठा—“जी हाँ।” कहा उसने इतना ही।

“लो, एडवान्स पचास ले लो। जितने भी चित्र बनाओगे, यह सब ख़रीद लेंगे। लेकिन इनकी लड़की की शादी के पहले बनाओ। पहले तो एक मदन-रति का चित्र बनाओ। समझे न ?”

“जी।”

“तो कब दोगे ?”

“दस-पन्द्रह दिन में।”

राजा ने सिर हिलाया—“नहीं। वह तो शनिवार को चाहिए। पार्टी है शनिवार को, उस दिन दरवाज़े पर चित्र लटक जाना चाहिए। अभी आठ दिन वक्त है, बना न लोगे ?”

“मनुष्य-शक्ति के सामने बाक़ी सब तुच्छ है।”—चिकित्सक के शब्द सुधीर को स्मरण हो आये।

असीम साहस से वह कह उठा—“शुक्रवार को चित्र पहुँच जावेगा।”

इसके बाद अत्यन्त प्रसन्नता से सुधीर घर की ओर चल पड़ा। पचास रुपये पाकेट में थे, सुधीर का जी खुशी से उछलाना-सा पड़ रहा था।

(४)

एकान्त गाँव में एक ततोधिक नीरव अर्द्धभग्न गृह। चहुँओर का अन्धकार उस भग्न गृह को केन्द्र-स्वरूप कर जम-सा रहा था।

उसी अँधेरे में सुधीर टटोलता हुआ द्वार पर पहुँचा। और फिर अधीर गति से आँगन में आकर खड़े होकर पुकारा—“माँ।”

उसका स्वर उस गम्भीर अन्धकार के स्तरों में एक खुशी नहीं। किन्तु भय के घूर्ण-आवर्त की सृष्टि करने में लग गया। तैल-दीप हाथ में लिये कोने के कमरे से वृद्धा नारी निकल आई—शोक का जीवन्त रूप-सी—“बेटा, धीरा की दशा खराब है।”

उन्मादिनी-सी दूसरी विधवा निकल आई—“सुधीर, बच्ची मेरी दवा-पथ्य के बिना मर रही है, माँ होकर मैं कैसे देखूँ ? कैसे सहूँ ! मेरी लाइली, मेरी दुलारी सुधीरा मर रही है, मर रही है। सुन रहे हो न भैया ! दो दाने अनार के भी उसके मुँह में न देने पाई, एक चम्मच दूध भी तो उसके मुँह में आज तक नहीं दे सकी। उसका गला सूख रहा है। भूखी-प्यासी वह मर रही है। मेरी बच्ची, माँ हूँ मैं। सुन रहे हो न, देख रहे हो न सुधीर ?”

और सुधीर ? आतङ्क से वह सिहर उठा। कहाँ गई वह खुशी—जो अभी कुछ पहले उसे मिल गई थी ? वैसी खुशी ? कहाँ की खुशी ! भारकान्त सुधीर ज़मीन पर बैठ गया।

“चार आने, केवल चार आने पैसे सुधीर, ला दो भैया, कहीं से भी मुझे ला दो। चोरी-डकैती करके लाओ, मेरी बच्ची दूध के बिना मर रही है, मेरी ज़िन्दगी के बदले चार आने पैसे ला दो सुधीर। नहीं मिलेगा कहीं ! तो मैं भूखी बच्ची को आखिरी बिदा दे दूँ ! और मर्द होकर तुम खड़े देखते रहोगे न ? शर्म भी नहीं आती ? दिन-रात का फालतू घूमना छोड़कर अगर नौकरी के लिए कोशिश करते, तो आज तुम्हारी माँ-बहन की ऐसी दशा होती ही क्यों ?”

फालतू ? सुधीर सिहर उठा। लज्जा से उसका मस्तक अपने-आप नत हो गया। इन गृह-वासियों को वह कैसे समझावे कि दिन-भर नौकरी की तलाश में वह किस प्रकार मारा-मारा फिरता है ! किन्तु न जाने क्यों वह चुप हो रहा—एक बहरा, गूँगा-सा।

“कहीं से एक रुपया लाओ, बेटा।” माँ ने कहा।

रुपया ! सुधीर सीधा होकर बैठ गया। पाकेट से नोटों का बण्डल निकालकर सामने फेंक दिया। पड़ोस का मोदी पहुँच गया। कहने

ल आप तो दिन-भर मिलते नहीं सुधीर बाबू, सो रात को आना पड़ा। बहुत रुपये बाकी पड़ गये हैं, कुछ तो दे दो। बाह र दाता, नोटों का बण्डल तो सामने पड़ा है।’

अनायास मोदी ने बण्डल उठाया और ठीक उसी पल में बाज़ का तरह विधवा स्त्री उस पर झपटा। नोट फटकर टुकड़े-टुकड़े हो गये।

विराट् विस्मय से सुधीर केवल उस आंर देखता ही रह गया।

(५)

शिल्पी सुधीर ध्यान-स्तब्ध योगी-सा कमरे में बैठा केनवास पर रङ्ग-तूलिका से रेखा अङ्कित कर रहा था। अव्यवस्थित रङ्ग, तूलिका आदि चारों ओर पड़े हुए थे। मदन और रति को वह तूलिका की रेखाओं में साकार करना चाह रहा था।

उन्मत्त आँधी-सा एक आर्त चीत्कार निकट के कमरे से उठकर उस भग्न-स्तूपप्राय अँधेरे गृह को ग्रास करना चाहने लगा। सुधीर चौंका, तूलिका हाथ से गिर पड़ी। दोनों हाथ से सिर पकड़कर वह आच्छन्न-सा बैठा रहा। उसे लगने लगा, मानो बोझ के नीचे वह दबा जा रहा है। सुधीरा का तो अन्त हो चुका था, अब—अब किसकी बारी आई ?

आज शुक्रवार है न ! चकित सुधीर सीधा होकर बैठ गया—‘यदि वास्तव जीवन से परिचय करना चाहते हो, तो उस ताकत को खोज निकालो।’ सुधीर के कानों में ये शब्द गूँजने लगे। उसने तूलिका सँभाली और चित्र बनाने लगा।

सामने की उच्च अट्टालिका से रात दो की घण्टी टनटना उठी। गृह निःस्तब्ध था। गृह के चहुँओर राशि-राशि अन्धकार, और कमरे के टिम-टिमाते दिये के सामने बैठा शिल्पी तूलिका पर तूलिका की रेखा पात करता चला जाने लगा। कल प्रातःकाल ही तो इस रति-मदन के चित्र को उसे देना था

टन-टन-टन तीन, फिर चार, और पाँच, छः । सात की बेला में गृह-प्राङ्गण में धूप न समाना चाहने लगी ।

माँ ने आकर हिलाया—“सुधीर ।”

चौककर सुधीर ने दृष्टि उठाई । यह कैसा भीषण चित्र रात-भर में बनाया है उसने ? चित्र में थी सूर्य-सम दीप्तमान् ज्योति और एक भीषण कङ्काल था उस ज्योति पर आरूढ़ ।

यही थी उसकी सृष्टि—रति-मदन का रूप ।

एक आर्त चीत्कार, उसके बाद सुधीर का चेतनाहीन शरीर लुढ़क रहा ।

×

×

×

×

निष्प्राणप्राय सुधीर पड़ा हुआ था । दीप्ति-मयी तरुणी ने गृह में प्रवेश किया । सुधीर के निकट रखे हुए उस कङ्काल-चित्र को देखकर करुणा से वह हँसी । इसके बाद उसने अपने वस्त्र के भीतर से एक चित्र निकाला ।

“सुधीर बाबू ।” पुकारा उसने धीरे ।

सुधीर ने स्तिमितप्राय नेत्र खोले—“भूत..... ।”

स्नेह से उसके सिर पर हाथ फेरा सुन्दरी ने—“किन्तु उस भूत को यह न जीत लेगा ! देखो इस चित्र को ।”

सुधीर चित्र को देखने लगा ।

उस चित्र में ? उस चित्र में था शान्त महासागर एक दिव्य प्रकाश और उस प्रकाश के चहुँओर रक्तराग स्फुलिङ्ग — रन्ध्रीन, छिद्रहीन ।

और परम आश्चर्य तो यह है कि सुधीर के निर्जीवप्राय नेत्रों में कोई अद्भुत ज्योति विकीर्ण होने लगी ।

बोला वह रुक-रुककर—“और यह ?”

सुन्दरी केवल मधुर हँसी ।

“विश्व का प्रेम ?”—कहने लगा सुधीर—“हाँ, शायद यह उस भूत को जीत ले ।”

वरदान

वे पति-पत्नी दुनिया में अड़कर ऐसे खड़े थे—जैसे आत्ममर्यादा को सँजोर-सँभारकर कठोर—निर्मम—परिस्थितियों को जीतने के लिए खड़े हों। नितिन और रमला एक दूसरे के गले में बाँह डाले चले चलते—पथ अतिक्रम करते। न डरते, न कभी अतीत की सुख-सम्पद के प्रति लौटकर देखना ही चाहते।

ज्ञातिभ्राता सरोज से मुकदमे में लड़कर जब नितिन सर्वशान्त हो गया, तब पति-पत्नी दोनों ने एक दूसरे के मुख के प्रति निहारकर ज़रा हँस भर दिया था—वही विषादखिन्न, किन्तु आत्मनिर्भरशील हँसी, बस।

उस दम्पति के जीवन में जटिल समस्या उपस्थित हुई उस एक दिन। निश-दिन की घड़ियों से—उस दिन की प्रभात घड़ियों में थी कुछ विचित्रता, महावर की ललामी, रक्त-चन्दन के छुँटे, केसर की गन्ध।

दशभुजा माँ के शुचि-शुभ्र आगमन की वार्ता पवन-कम्पन में थी मरी, उन मझल पायल-ध्वनि की गुञ्जना थी विश्व की चेतना में रमा, हस की ध्वनि में बँधी, लता-गुल्म और विश्वप्राण में अँकी।

वर्ष के उस एक दिन में नितिन पड़ गया बीमार। कदाचित् मृत्यु-शय्या पर ही। तब भारतवर्ष में थी दुर्गापूजा की धूम। सहनाई की मीठी-मोहक धुन, श्रद्धा की अनोखी डाली।

नितिन की भग्नप्राय अट्टालिका को जैसे उपहास करता हो—वह दुग्धफेननिभ राजप्रासादतुल्य सरोज का विशाल भवन—खड़ा था ठीक आमने-सामने। रात का अँधेरी बिजली के प्रकाश के निकट वहाँ हार बैठी, दरिद्र की रिक्तता वहाँ एक उपहास-सा लगता, व्यथा का क्रन्दन लगता व्यङ्ग-सा। दुर्गापूजा का उत्सव उस भवन की वायु में था साकार।

बाहर की दालान में दशभुजा मूर्ति सुवर्ण के अलङ्कारों से शोभित खड़ी थी, मुकुट पर रत्नों के तारे जड़ित थे। बाह्य कोलाहल से पवन या स्तब्ध। रजत-पात्रों में धूप-दीप-नैवेद्यादि घरे थे। फल-फूल,

दूध-मिश्रणों पर केवड़ा-जल छिड़का जा रहा था। पुर नारीगण मणि-मुक्ता-खचित वसन-भूषणों से सज्जित होकर गान-गल्प में मस्त थे।

वर्ष का वह एक दिन। उस दिन मलिन और छिन्न शय्या पर पड़े-पड़े नितिन ने स्तिमितप्राय नेत्रों को पसारकर पुकारा धीरे से—
“रमा !” सद्यःस्नाता नव-वसन-परिहिता रमला दालान गोबर से लीपकर आम्रपल्लवयुक्त घट स्थापना कर चुकी थी। वह धीरे गति से पहुँची पति के पास।

“इस वर्ष अपना घर सूना रहेगा रमा ?”

“क्यों ?”

“देवीपूजा के बिना ”

“नहीं !” दृढ़ स्वर से बोली वह—“पूजा होगी ही।”

“कर सकोगी न तुम रमा ? सँभाल लोगी न ?” प्रश्न था अवश्य, किन्तु विश्वास के साथ।

“हाँ।”—उत्तर दृढ़ किन्तु संक्षिप्त था।

“दादा के घर इस वर्ष पूजा की बड़ी धूम है।” चुप हो रही रमा।

“क्यों— जानती हो रमला ! नहीं ? एक तो मुक्तदमा जीतने की खुशी। सुनते हैं, उन्होंने मानता की थी—जीत होने पर सोने के ढ़ेवर देवी को गढ़ा देंगे। और यदि इस साल लड़का बी० ए० में पास हो जायगा, तो अगले वर्ष सोने का सिंहासन देवी को बना देंगे ”

“देवी को देंगे ?”—उसके मुँह पर घृणा की छाया ब्याप गई। अपने को सँभालती हुई वह नितिन को दवा पिलाकर वहाँ से चल दी। ज्वर भी देखती गई, कुछ कम था।

“और यदि—” पत्नी को जाते से रोककर कहने लगा नितिन —
“यदि पूजा के भीतर ही मैं मर जाऊँ ?”

संयत स्वर से उत्तर आया— “परन्तु अभी तो मेरी निष्ठा-भक्ति में कमी हुई नहीं। तब क्यों ऐसे अशुभ को सोचो ! दुर्गा मंगलमयी हैं।” चल दी वह।

धूप-दीप-गन्धित उस सन्ध्या की बेला में अष्टालङ्कार-भूषिता सरोज-पद्मा विमला जब पूजा की दालान में पहुँची, तब मुद्रित-नयना रमा घट पर चँवर भलती हुई स्तव-पाठ में लीन थी। नितिन अर्द्धसुप्त अवस्था में खुले द्वार से उसी ओर निहार रहा था।

पहुँची वहाँ विमला। पूजा के उस सामान्य उपकरण-आयोजन को निहारकर परिहास से मचल-सी उठी।

वैसे ही पूछा उसने—“कैसे हैं अब लाला ?”

रमला ने उसे देखा. स्तव-पाठ शेष किया, देवी को प्रणाम कर आसन विछाया—“बैठो जीजी, वे ? वैसे हाँ तो हैं।”

“जब कि वे ऐसे बीमार हैं, तब इस स्वाँग को रचने का ज़रूरत ही क्या थी छोटी बहू ?”

“स्वाँग ?”—रमला विस्मय से निर्वाक रह गई।

“स्वाँग नहीं तो क्या ? न देवीप्रतिमा. न फल-मिष्टान्न न पुरोहित, खासा स्वाँग ही तो रच लिया तुमने छोटी बहू।”

“परन्तु मैं ऐसा नहीं समझती जीजी। यो तो दिन-रात देवी अपने चित्त में रमी रहती हैं। परन्तु वर्ष के एक इस विशेष दिन में मन का सम्भ्रम, श्रद्धा, सम्मान उन्हें विशेष रूप से भेंट करने की ज़रूरत पड़ ही जा जाती है जीजी। तुम्हारे देवर की दवा, सेवा, पथ्य में कमी नहीं होती और न हो ही पायगी। पूछो न उनसे।”

“किन्तु मूर्ति कहाँ है ? किमकी पूजा कर रही हो तुम ?”

“देखती नहीं हो जीजी, यह घट जो है।”

वह हँसी—व्यङ्ग की हँसी—“यदि घट से ही देवी की पूजा हुआ करती. तो संसार में इतनी प्रतिमाएँ बनाई ही क्यों जातीं ?”

“केवल आत्मा की तृप्ति के लिए और धन-सम्पद की प्रचुरता बघारने के लिए। यदि अपनी आत्मा इसी घट को पूजकर तृप्त हो, यदि इसी में देवी को हम साकार पावें. तो प्रतिमा की ज़रूरत ही क्या है ? और

फल-मिष्टान्न ? ये हैं फूल-बेलपत्र और बगीचे के कैले, बेर, नारियल । मेरी आत्मा इसी से सन्तुष्ट है जीजी । लो, प्रसाद ले लो ।”

विमला को विस्मय-स्तब्ध छोड़कर वह रकेवी में नारियल के लड्डू, कुछ बताशे, कैलों के टुकड़े, बेर आदि साजकर सामने ले आई ।

प्रसाद हाथ में लेकर विमला बोली—“मिठाई-पकवान खाते-खाते पेचिश हो गई है रमा । इस वर्ष तेरे जेठ ने बड़ी धूम से पूजा की है और अगले वर्ष के लिए मानता कर दी है—यदि बच्चा अच्छी तरह से पास हो गया, तो सोने का सिंहासन बना देंगे । अच्छा, तो जाती हूँ । देवीदर्शन को आना । रात में आज नाटक भी होगा ।”

चलते-चलते वह लौटी—“तो पूजा कौन पण्डित कर रहे हैं ? मैंने तो बनारस से वाचस्पतिजी को बुला लिया है, उनके मन्त्र विशुद्ध होते हैं ।”

शान्त भाव से रमला बोली—“पूजा मैं ही तो कर रही हूँ जीजी । इस वर्ष देवी कृपा कर मेरे हाथ की पूजा ले रही हैं ।”

इसके बाद वहाँ खड़े रहना विमला के लिए असम्भव था । हँसी के बोझ से दबती हुई वह चल पड़ी ।

विजया के मध्याह्न की बेला में सहनार्द्र में विदा की रागिनी मूर्च्छातुर थी ! कोकिला के स्वर में उदासी । पुष्प सुरभि जैसे वायु ने लूट ली थी । गृहवासी थे उदास - विषण्ण ।

वर्ष का वह एक दिन । उस दिन में विदा की उदासी व्याप रही थी । तीन दिन की हँसी-खुशी, पान-भोजन पर जैसे उदासी की व्यथा व्याप गई थी । बच रही थी स्मृति की खुशी—जो कि प्रत्येक के पास विनाशहीन थी, बस इतना ही ।

सुसज्जित मूर्तियाँ विदा हो रही थीं सहनार्द्र के स्वरों में । कुछ रथ पर और कुछ मनुष्यों के कन्धों पर रखी हुई थीं । प्रत्येक द्वार पर भीड़ थी । कुछ प्रतिमाएँ विसर्जन के लिए नर्मदा के तीर तक चल चुकी थीं ।

रमला घर में देवी को प्रदक्षिणा-वन्दना करती, देवीनिर्माल्य पति के सिर पर धरती और भक्ति-श्रद्धा से देवी की स्तुति कर रही थी ।

उसके घर सहनाई की धुन ? नहीं—यह सब कुछ नहीं । थी घण्टा-घड़ियाल की ध्वनि और शङ्ख के गुरु-गम्भीर नाद में ओंकार की ध्वनि —साकार ।

आँधी की भाँति हँसती, मुसकाती पहुँच गई विमला—“कैसे हैं लाला !”

“वैसे ही ।”

“दो दिन किसी तरह भी नहीं आ सकी । दिन में पचासों पतरी पड़ा करतीं । घर में अकेली मैं क्या-क्या करूँ ? अभी-अभी प्रतिमा बिदा कर आ रही हूँ ।” रमला चुप रही ।

“तू तो गई नहीं दुलहिन ! देखती तेरे जेठ ने कैसा बृहद् आयोजन किया था । शहर में बस यही तो एक काली ऐसी है—जो कि सोने के जेवर पहनी हुई है ।”

“समय नहीं मिला जीजी ।” विनीत भाव से रमा ने कहा, घट-वन्दना समाप्त कर ।

“सो तूने देवी से माँगा क्या ?”

“मैंने ?” तृप्ति से मुसकराती हुई कहने लगी रमला—“यही कि, तुझे पूजने की शक्ति सदा रही आवे, तुझ पर भक्ति अक्षय रहे ।”

निबिड़ विस्मय से कहा विमला ने —“यह भी कोई माँगने की चीज है ? और माथे का सेंदुर ? लाला की ऐसी दशा में—”

संयत स्वर में बोली रमा—“सेंदुर की डिबिया भोख में भी माँगी जाती है ?”

“कैसी पगली है तू ! लाला के लिए कुछ मानता क्यों न कर दी कि वे अच्छे हो जावें तो अगले वर्ष षोडश उपचारों से पूजा करूँगी ।”

“घूस का लोभ दिखलाकर देवी-देवता से वरदान माँगना ? छिः, वे इन सबों के परे जो हैं जीजी ।”

“तो देवी पूजकर तेरा लाभ कौन सा हुआ ? तुझे वे कौन सा वर दे गई ?”

“फल की कामना कर तो मैंने पूजा नहीं की जीजी । देवी मेरे घर आई, मेरे हाथ की पूजा ली, बस यही तो मेरा वरदान है जीजी ?”
विमला विस्मय-दृष्टिवाक होकर उसका मुँह निहारने लगी ।



दिल्लीवाला

उस दिन घोड़े और गाय की दवा करते-करते जब मैं थक गया तो किसी ने पुकारा—‘डॉक्टर साहब ।’ मैं झुँझला पड़ा । आखिर मैं भी तो आदमी ही हूँ, न एक क्षण विश्राम, न कुछ मनोरंजन । सबेरे से लेकर शाम तक बस इन्हीं मूक प्राणियों के साथ घूमना, गधों और घोड़ों को देखते रहना ।

उन डॉक्टरों में और मुझमें पृथ्वी-आकाश का अंतर है जो भाषामय प्राणियों के लिए हैं । उन्हें तो रोग-निर्णय के लिए अनेक सुयोग और सुविधाएँ रोगी ही के निकट से मिल जाती हैं—और यहाँ मूकों की सभा में विधाता की जानकारी की ज़रूरत पड़ती है । फिर भी दुनिया सम्मान का उच्च आसन देते समय पक्षपात करती है । क्यों ? बहुत सहज है ! वे चिकित्सक हैं उन्हीं पक्षपात करनेवालों के, भला पशु-चिकित्सक को कौन पूछे ?

पशु की भी आत्मा है—तो क्या । ये हैं तो वही मूक, निरीद, असभ्य प्राणी न । हमारी तरह न वे सुख-दुःख को कह सकते हैं, या सट्टेड-बूटेड, सिगरेट फूँकते हुए सिनेमा में जा सकते हैं, अथवा सुन्दर लेडियों के साथ ही बैठ सकते हैं, हाँ, और लोकचर भी तो नहीं दे सकते । सभ्यता तो असभ्यता को सदा ही से नीच और हेय दृष्टि से देखती चली आ रही है फिर इसमें चिढ़ने की या निन्दा करने की कौन-सी बात है !

नहीं—नहीं, मैं न किसी को निन्दा करता और न किसी की बड़ाई करता हूँ । केवल कहना चाहता हूँ कि मैं पशु-चिकित्सक हूँ और लोग

मुझे डाक्टर न कह कर दिल्लीवाला कहते हैं। उनके इस कहने पर मुझे कभी-कभी हँसी आ जाती है। अरे, नहीं भाई, मैं क्या, मेरे बाप-दादा भी कभी दिल्ली में नहीं रहे, हाँ, मैं दो महीना वहाँ अवश्य रहा हूँ। और वहीं से, तबादले के बाद, यहाँ आया हूँ।

उस दिन जब डाक्टर साहब कहकर किसी ने पुकारा तब विरक्त होने के साथ ही साथ मैं विस्मित भी कम नहीं हुआ। फिर भी मन में कुछ संतोष भी हुआ कि आज भी मुझे डाक्टर कहकर संबोधन करने-वाला कोई है। 'दिल्लीवाला—दिल्लीवाला' सुनते-सुनते मैं सचमुच तंग आ गया था।

मुँह फेरते ही दुनिया भर की प्रसन्नता, और सरलता मुझे मिल गई—उसी एक पल में। उन मूक, बधिरों की सभा में मुझे सरस्वती के हाथ की मुखरित वीणा-सी मिल गई। सुदूर पंजाब के एक शांत ग्राम का चित्र मेरी आँखों के सामने परिस्फुट हो उठा—मिट्टी के आँगन में कई नग्न, अर्द्धनग्न बालक-बालिकाएँ बिल्ली के पीछे दौड़ते दिखाई पड़े। भूल गया कि मैं पशु-चिकित्सक हूँ। आग्रह, उद्वेग से मैंने पूछा—“क्या है भाई, तम रोती क्यों हो ?”

कुंद-कलो-सी, स्वर्ग-सुषमा-सी एक छोटी बालिका थी। लंबी, पतली भौहों के नीचे मोहक और बड़े-बड़े नेत्रों में जल छलछला रहा था। पुष्प-स्तवक-सी केशराशि मुँह को घेरे पीठ पर झूल रही थीं, पतली बांहों में बारीक सोने की चूड़ियाँ पड़ी थीं। पैर में जूते-मोजे, जाली का फ़ाक; सिर के गुलाबी रिबन से 'बालिका देव-कन्या-सी लग रही थी। साथ में एक काला, बूढ़ा व्यक्ति था। शायद वह नौकर रहा हो।

‘किटी रोती है, उसे अच्छा कर दो।’ बालिका सिसक रही थी।

मेरा हृदय स्नेह से उमड़-सा आया। कैसा सरल और निर्भरशील आवेदन था। मानो मैं विधाता ही ठहरा, जो चाहूँ सो करूँ। वैसी निर्भरशीलता, और विश्वास पाने का मेरे लिए वह प्रथम अवसर था। किन्तु मैं हैरान था कि किटी किस जीव का नाम हो सकता है ? मैंने

उस ओर देखा : पहली का समाधान उसी पल में हो गया। एक मोटी सफ़ेद बिल्ली बालिका गोद में दबाये थी।

‘घबराना न ममता बाई, अब ही तुम्हारे बिलईया नीक होइ जाइ’—नौकर बोला।

बिल्ली को लेकर मैंने साहस दिलाते हुए कहा—‘कौन-सी बड़ी बात है। आप बैठिए ममताबाई, मैं अभी इसे चंगा किये देता हूँ।’

मैंने ममता को कुर्सी पर बिठाया और मन ही मन विचार करने लगा कि माता-पिता ने बालिका का सार्थक नाम रखा है। मानो साक्षात् ममता ही सामने खड़ी थी, पशु के लिए ऐसी दया, इतनी ममता मैंने किसी में नहीं देखी। कुत्तों को लेकर कितनी ही मेम साहबा आया करती हैं, किन्तु उनके स्वर में आज्ञा, अधिकार, और आप्रह के सिवा और मुझे कभी कुछ नहीं मिला।

कहने को तो मैं कह गया कि अभी अच्छा किये देता हूँ, किन्तु सच पूछिए तो मैं ज़रा सन्देह में पड़ गया था। पता नहीं कि उसे कौन-सा रोग हो गया था।

फाटक पर मोटर भरभराने लगी। आरोगी पर दृष्टि पड़ते ही मैं सहम उठा, शहर के एक प्रसिद्ध धनवान् खड़े थे। ममता दौड़ कर उनसे लिपट गई—‘मामू, डाक्टर कहते हैं—किटी अभी अच्छा हो जायगी।’ आगन्तुक मुसकुराये—‘हाँ—हाँ, होगी क्यों नहीं। डाक्टर, जैसे बने बिल्ली को बचाइए, कल शाम से ममता रानी का खाना-पीना बन्द है। देखिए, जब तक मैं चलूँ, तब तक यह रामदीन के साथ चल पड़ी।’

जल्दी से मैंने बिल्ली को इनजेक्शन लगाया और अरण्डी का तेल भी पिला दिया।

कृतज्ञ दृष्टि से मेरी ओर देखकर ममता मामू के साथ कार पर बैठ गई। मैं उसे निःनिमेष दृष्टि से देखता रहा। न जाने उस दिन से मुझे क्या हो गया है, हर बात में मैं अनमना रहने लगा हूँ।

वह अस्पताल, उसी दिन से मेरी दृष्टि में सौन्दर्य की नवीनता से भर गया। डेरे पर प्रातःकाल उठते ही मैं नौकरों को तंग करने लगता, चाय में देरी होने पर उन पर भुँभुलाता, वे केवल विस्मित दृष्टि से मुझे देख भर लेते, कुछ कहते नहीं। कौन जाने वे सब क्या सोचते। उनके मनोभावों को समझने के लिए उतना समय और धीरज कहाँ था।

मुझे लगता—अस्पताल में आकर वह देववाला कहीं लौट न जाय। उस मुख-मण्डल को देखते-देखते मैं अपने आप को भूल जाता। उसके सुन्दर और सरल प्रश्नों का उत्तर मैं घंटों देता रहता। घोड़े, गाय, कुत्तों के न जाने कितने रोगों के नाम मैं उसे बतलाता और जब उस सुन्दर भूख के मनोहर नेत्र विस्मय से विस्फारित हो उठते, तब मैं अपने को न सँभाल पाता। इच्छा—प्रबल इच्छा होती कि उसे एक बार बेटी कहकर पुकारूँ, केवल एक बार उसके मस्तक को हृदय से लगा लूँ। किन्तु उसी क्षण मुझे सहमना पड़ता, मैं दरिद्र, उस राजकन्या को बेटी कहकर पुकारने का अधिकारी कैसे हो सकता हूँ !

केवल बालिका ही नहीं, रामदीन भी गम्भीर मुद्रा बनाये एक अचरज से हम दोनों की बातें सुनता रहता, उस भृत्य के प्रति भी मेरी ममता जग पड़ी थी।

धीरे-धीरे बिल्ली अच्छी हो गई। वह बालिका, अम्लान हँसी-सो, पारिजात-वन की देवकन्या-सी, गुलाब-गुच्छ-सी—वह बालिका, ममता गनी अब नहीं आती। सवेरे से शाम तक आकुल प्रतीक्षा में मेरा बूढ़ा मन दरवाज़े पर अटक रहा; किन्तु सब कुछ व्यर्थ कर बूढ़ी निशा-नारी नींद का कुसुम-हार गले में डाले गिरि-गुहा से निकल आती और निराश, व्यथित श्वास हृदय में दबाकर मैं बूढ़ा घर लौट आता।

खुट-खुट खुट. मिऊँ-मिऊँ। सन्ध्या होने ही को थी। मैं श्वास रोककर प्रतीक्षा करने लगा। उस जूते की आवाज़ को मैं भली भाँति पहचानता हूँ और किटी की मिऊँ मिऊँ आवाज़ को भी।

उस आवाज़ को सुने कितने वर्ष हो गये । परन्तु मैं ज़ोर देकर कह सकता हूँ—आज यदि द्वार पर उस आवाज़ को सुनूँ तो अवश्य तुरन्त पहचान लूँगा । हज़ारों खुटखुटाहटों में मैं ममता के उन छोटे जूतों की आवाज़ निश्चय पहचान लूँगा ।

कम्पाउण्डर आदि अपने बही-खाते को लिये मेरा मुँह ताकते ही रह गये । और मैं ? मालूम नहीं उस समय मैं स्वप्नलोक में था या वास्तविक जगत् में । बिल्ली एक चाँदी की ज़ंजीर में बँधी थी । हाँ—वही स्वप्नलोक-सी बालिका, चंद्रलोक की रानी-सी ममता मेरे सामने थी । सिर के बाल वैसे ही जूही के गुच्छे के समान भूम रहे थे, बाईं ओर एक सफ़ेद, चौड़ा रिबन फूल की तरह बँधा था । जाली का नहीं; सादा रेशम का फ़ाक था और रामदीन दो बड़ी परात लिए खड़ा था ।

बालिका खिलखिला पड़ी—‘बैठे-बैठे तुम सोते हो, दिल्लीवाले ? मुझे तो बिस्तर पर भी नींद नहीं आती । माँ जब आँखें बन्द कर लेती हैं, मैं तब किटी को लेकर भाग जाती हूँ ।’

‘कहाँ, रानी ?’ परम कौतुक से मैंने पूछा ।

‘तुम नहीं जानते ?’—विस्मय से उसने कहा—‘पीछे । वहीं तो रामदीन रहता है और आया भी ।’

‘अरे-हाँ-हाँ, अब मुझे याद आई । तुम वहीं भाग जाती हो ?’

‘हाँ । माँ उठकर जब मुझे बुलाती हैं, तब मैं रामदीन की रज़ाई में घुस जाती हूँ ।’

वह हँसने लगी । रामदीन और हम सब भी हँस पड़े । अब मुझे उन परातों की बात याद आई । रामदीन उन्हें ज़मीन पर रखकर कहने लगा—‘ले, बिलइया केर बदके तुहँ रे मिठाई ।’

मैंने किटी को गोद में उठा लिया—‘यह खुशी की मिठाई है, बाई ?’

‘तुम्हारे लिए लाई हूँ । किटी ने भी खाया है ।’

‘और तुमने ?’

‘मैं मिठाई नहीं खाती ।’

‘ऐसा क्यों, ममता बाई ?’ विस्मय से मैंने पूछा ।

‘मिठाई मुझे अच्छी नहीं लगती !’

घर की बनी बड़ी सुन्दर सुस्वाद बङ्गाली मिठाइयाँ थीं । अस्पताल में सबको बाँटा । उस दिन वह देर तक बातें करती रही ।

(३)

उस दिन शायद मैं अस्पताल ज़रा जल्दी गया था । कुछ बातें मेरे कानों में पड़ीं—‘ममता बाई की बिल्ली फिर बीमार नहीं पड़ती ?’

‘मैं तो ईश्वर से सदा प्रार्थना किया करता हूँ कि वह बिल्ली फिर बीमार पड़ जाय, वैसी अच्छी मिठाई थी और बच्ची भी वैसी गुड़िया-सी है । कुदुर-कुदुर चली आया करे ।’ कम्पाउण्डर और मुंशी दोनों बातें कर रहे थे । एक गहरा श्वास मेरे हृदय को चीरता हुआ निकल पड़ा । मैं चुपके से चला गया ।

हँसी की आवाज़ से मेरी दृष्टि उस ओर गई । बँगले के कम्पाउण्ड में ममता तितली सी धूम मचा रही थी, आगे-आगे किटी भागी जा रही थी और ममता तालियाँ बजाती उसके पीछे दौड़ रही थी, हवा में बाल भूमते जाते थे । न जाने कब तक मैं वहा खड़ा रहता, किन्तु मोटर के हार्न से मुझे हटना पड़ा ।

कितने ही दिन बीत गये । वर्षा आरम्भ हो गई थी । वह छोटी बालिका दीखती नहीं थी । मैं निर्जोब-सा अपनी ड्यूटी करता और सन्ध्या समय क्लान्त चित्त से डेरे पर लौटता ।

कपड़े ख़रादने थे । पुराने छाते को लेकर भीड़ चीरता मैं दुकान तक पहुँचा । परन्तु दुकान पर पहुँचकर चुपचाप खड़ा रह गया । गद्दी पर वह गुड़िया बैठी थी—सम्राज्ञी की तरह, और दुकानदार उससे न जाने कितनी बातें कर रहा था । सामने राशिवृत कपड़े पड़े थे । एक ओर रामदीन मुँह बाये बैठा सिर हिला रहा था—जैसा कि वह प्रायः किया करता । एक बड़ा तोता ममता के कंधे पर बैठा था । उस तोते

की कीर्ति रानी ममता दुकानदार से कह रही थी। दुकानदार सुनता जाता था और कपड़े भी उसे दिखलाता जाता था। उस बालिका की बुद्धिमत्ता, उसकी पसन्द को देख-सुनकर मैं अवाक् रह गया। साड़ियाँ और चादर पसन्द कर लो गईं। पोत के मनीवेग से उसने नोट निकालकर दे दिये। चलते समय मुझे देखकर ममता रानी बड़ी प्रसन्न हुईं। और बोलीं दिल्लीवाले, किटी अच्छी है।’

‘तुम तो अब आतीं ही नहीं, ममता रानी,’ मैंने अभिमान से कहा। रामदीन कह उठा—‘आर्ये कैसे ! चार बजे तो स्कूल से लौटत है; फिर घर मा बिलारी है, सुग्गा है, गाय का बछड़ा है, उनसे खेल-कूद में लग जावत हैं।’

मुझे दुखी होते देखकर वह जल्दी से कहने लगी—‘मैं आऊँगी, डाक्टर साहब।’

दुकान से निकलते ही दूसरे दुकानदारों ने उस गुड़िया को घेर लिया। कोई लाज़ेजेज़ लेकर दौड़ा, कोई चाकलेट। कोई पुकारने लगा—‘रामदीन भाई, बाई का ज़रा मेरी दुकान पर लाना।’

मैं चुपचाप खड़ा उस दृश्य को देखता रहा।

किन्तु वह शान्ति, वह सुख मेरे भाग्य में अधिक दिन न रहा। मैं दूसरे शहर में बदल गया। आँसू बहाते हुए उस देवकन्या को छोड़कर जाना पड़ा।

बीच में कितने ही वर्ष बीत गये। एक शहर से मैं दूसरे में गया। छुट्टी लेकर देश भाँहा आया, किन्तु फिर भी ममता को भूला नहीं। काम-काज में अपने को लगाये रहता, ज्यों-ज्यों समय बीतता गया स्मृति हृदय में और भी उज्ज्वल होती गई।

मैं विस्मय से सोचता—उस डेढ़ हाथ की, दुबली-पतली, गोरी बालिका में ऐसी कौन-सी शक्ति, ऐसा कौन-सा इन्द्रजाल है, जो एक दरिद्र को वर्षों बाद भी आच्छन्न-पा कर रहा है ! उसकी स्मृति भ्लान होती ही नहीं।

(४)

इन वर्षों में मेरे सिर पर दुःख के पहाड़ से टूट पड़े। मुझ बूढ़े को जनम भर के लिए रोने को छोड़कर जवान लड़का चल बसा। उधर लड़की विधवा होकर घर लौट आई। पेंशन के लिए मैं आवेदन कर चुका था। काम-काज में शिथिलता आ गई, स्वभाव मेरा बिलकुल ही चिड़चिड़ा हो गया था।

उस दिन डेरे से निकलते ही एक मेम की लड़की भवरी, काली बिल्ली लिये मिल गई। वहीं मैं अचल हो रहा। दस वर्ष पूरे के वे दृश्य मेरी आँखों के सामने चल-चित्र की भाँति सचल हो गये। ममता रानी मेरी ममता इससे अधिक सुन्दर है। इससे क्या, दुनिया में वह एक ही सुन्दर बालिका है। जी भर आया। विचार पक्का कर लिया कि देश लौटते समय मैं उस शहर में जाऊँगा और उस बालिका को जी भरकर देखूँगा। किटी अच्छी है न? और वह सुआ! ममता के कोमल कंधे पर सुआ कैसे मजे में बैठा था।

उस दिन कोर्ट खुलते ही जज साहब के चपरासी से भेंट हो गई—
'जल्दी चलो दिल्लीवाला, मेम साहब कल से भूखी हैं।' 'क्यों भाई?—
मैं विस्मित हो रहा था।

'बेबी बीमार है।'

'कोई डाक्टर को ले जाओ, मैं तो पशु-चिकित्सक हूँ।'

'बेबी कोई बच्चा नहीं; कुत्ता है।'

उसके साथ-साथ अपनी भूल पर मैं हँस पड़ा।

पाँच मिनट में मोटर बँगले के फाटक पर पहुँच गई। बगीचे में माधवीकुंज के नीचे मिस्टर राय—याने सेंस जज—पत्नी सहित बैठे मिले।

'डाक्टर, मेरे बेबी को बचाओ।'

उस स्वर से मैं चौंक पड़ा। नहीं-नहीं, मैं भूल नहीं कर सकता, उस स्वर को मैं पहचानता हूँ। मेरे कानों के परदे में उसकी भंकार सदा होती है। मैं अपनी ममता को भूल ही कैसे सकता?

कुत्ते को गोद में लिये जज साहब के पास एक अनिन्द्य सुन्दरी बैठी थी। उसके नेत्रों में दस वर्ष पूर्व के वही आँसू थे।

मैंने देखा—आँखें फाड़-फाड़कर देखा—नहीं-नहीं, यह मेरी ममता नहीं है। मेरा अन्तर हाहाकार से भर उठा। इसी युवती ने उस गुड़िया को, मेरी छोटी-सी ममता को चुरा लिया है। इसे नहीं, मैं अपनी उसी छोटी ममता को देखना चाहता हूँ।

आर्तनाद कर मैं वहीं बैठ गया, हाथों से आँखें दबा ला। मैं उसे देखता कैसे? चाहे यह अतुलनीय सुन्दरी हो, किन्तु जिसने मेरा सर्वस्व लूट लिया है, उसे मैं सहता कैसे?

मेरा सब कुछ लूटकर वह रूप की रानी तो बन बैठा है, किन्तु उस सुकुमार चित्र को वह मुझसे नहीं छीन सकती थी—वह तो मेरे हृदय के पदों में मुरजित है।

‘दिल्लीवाला’—बड़े कोमल, मोहक स्वरसे किसी ने पुकारा। मुझे तन्द्रा-सी आ गई, उस स्वर की झङ्कार मेरी नसों में होने लगी—हैं-हैं, मेरी ममता अब भी वैसी ही है। मैंने आँखें नहीं खोलीं। जी भरकर उस स्वर को सुनने लगा।

‘दिल्लीवाला।’—वही मीठा स्वर।

इतना भी तो मेरे लिए बहुत है। जीवन की अवेला में क्या इतना ही कम लाभ है?

मुनिया

शीत की झिलमिलाती सुन्दरी दोपहरी, नर्मदा-जल में पड़ी सो रही थी। पवन के स्वर में शोदन नहीं था, था गान। भौरों की टोली में थी एक विरामहीन खुशी। सूर्य की किरण में थी एक शान्त मुस्कान।

द्वितल अट्टालिका की खुली खिड़की से मुठी भर धूप कमरे में लोट रही थी, और उस मीठी धूप में बैठी बुलबुल-सी सुरीली, लाल मुनिया-सी मीठी, मुठी भर एक लड़की स्कूल का पाठ याद कर रही थी, उसके झबरे बालों में एक हलके रङ्ग का रिबन बँधा था, फ्राक की आस्तीन में लेस टँगा हुआ था, हाथ के सोने के बारीक कड़े कुछ घिस-से गये थे। नन्हे-नन्हे जूते एक ओर रखे थे। चटाई पर वह बैठी थी। सामने किताब खुली रखी थी, और झबरी बिल्ली गोद के पास पड़ी सो रही थी।

पैर दबाता हुआ बाबूलाल पहुँच गया। कौन बाबूलाल ! वही, जिसे बालिका के घर के लोगों ने बचपन से पाला था और अब सात आठ वर्ष का बाबूलाल उनके घर का बच्चा सा हो गया था, स्कूल में पढ़ता और बालिका का मित्र नृत्य तथा खेल का साथी बन बैठा था।

दो-एक मिनट वह चुप रहा फिर बोला—“हूँ—हूँ मुनिया।”

बालिका का नाम चाहे और कुछ रहा हो, किन्तु बाबूलाल के मुनिया पुकार से लोग उसे मुनिया कहने लगे थे।

लड़की ने उसे एक बार देखा, फिर पढ़ने में लग गई। अचानक बिल्ली चीख पड़ी। बालिका ने जल्दी से उसे गोद में उठा लिया। व्यथा से उसके मुख की नसें कुञ्चित हो गईं। बोली—“मिनि को तुमने फिर मारा बाबूलाल !” मिनि को जब गोद का अभय आश्रय मिल गया तो वह बाबूलाल की ओर देख-देखकर गुर्राए लगी, फूलकर डबल हो गई।

दोषी बाबूलाल एक किताब पर ऐसा ही तन्मय हो गया कि मानों उसने कुछ देखा-सुना ही न हो।

बिल्ली को चूम, पुचकार कर बालिका ने उसे शान्त किया—“बड़ा खराब है बाबूलाल मिनू ! हम तुम उसे मारेंगे, तुम गोदी में सो जाओ।”

और मिनि भी—जैसे उसकी सब बातों को सोच-समझकर सो रही।

“मुनिया हूँ—हूँ।” बाबूलाल ठुनका।

“बाप रे बाप, क्या है।”—विरक्ति से वह बोली।

“हूँ—हूँ मुनिया।”

“अरे तो क्या है बोल न।”

“भूख लगी है।”

“भूख लगी है?”—निमेष में बालिका की विरक्ति जाती रही। मिनि को हटाया और उठकर खड़ी हो गई। भाँककर देखा माँ दूसरे कमरे में बैठी लिख रही हैं। नानी सो रही हैं। उसने डोलची खोली। नरम-नरम पूरी और साग निकाल कर उसे दे दिया। बाबूलाल उसी धूप में पैर फैलाकर बैठ गया और खाने लगा। और मुनिया की आँख बचाकर मिनि को चिढ़ाने लगा। पूँछ पकड़कर एक-आध बार उसे खींच भी लिया।

बालिका पढ़ने में बैठ गई।

बाबूलाल टुनका—“हूँ—हूँ लाल मुनिया।” बहुत प्रयोजन जब उसे होता था तब वह लाल मुनिया कहता था।

“अब क्या?”—कहा बालिका ने।

“गुड़ दे मुनईयाँ।”

बालिका ज़रा विचार में पड़ी। गुड़ खजूर का थोड़ा ही सा कलकत्ते से आया था और नानी उसे बड़े ही यत्न से भण्डार में रखे हुए थी। बालिका पैर दबाते भण्डार में गई, गुड़ लाकर उसे दे दिया।

“हूँ—हूँ।”—वह फिर टुनका।

“अब और क्या?”

“पानी।”

“नल से पी लो।”

“नहीं। ठण्डा पानी दो—”

बालिका उठी और सुराही में से पानी लाकर दिया। खा-पीकर बाबूलाल बैठ गया तो अत्यन्त आदर से लड़की ने पुकारा—“बाबू”।

“क्या है?”

“खट्टा ला दे बाबू!”

“मैं नहीं जा सकता, अपनी बिलईया से मँगा लो।”

“ला दो बाबूलाल !”

“मैं नहीं जा सकता। और कहो बिलौहा।”

“ला दे भैया ! अब बिलौहा न कहूँगी।”

“नहीं लाता, जाओ। कल तुमने मेरी पतंग क्यों फाड़ी थी ?”

“और फाड़ूँगी। तुम मिनी को क्यों तङ्ग करते हो ?”

“अच्छी बात है।” बाबूलाल मुँह फेरकर बैठ गया। बालिका चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगी—

“बिलौहा रे, बिलार रे।” अब बालिका का मन्त्र न चला तो कहने लगी—“भिरिया-भिरिया, छिरिया, बकरिया।”

बाबूलाल की शादी उसकी माँ देश में कर आई थी। बहू का नाम था—भिरिया। और वह भिरिया नाम से चिढ़ता था। तो बाबूलाल से अब न सहा गया। वह लपका और बालिका को नोचने लगा। बालिका दौड़ी-दौड़ी फिरने लगी। किन्तु मुँह उसका बन्द न हो सका और न बिल्ली ने उसका साथ छोड़ा। थोड़ी देर में बाबूलाल हारकर बैठ गया।

“तूने ऐसा नोचा बाबूलाल !”

बाबूलाल का मुँह उतर गया। बोला—“लग गया बाई ?” बालिका मुँह फेरकर ऐसी बैठी कि जीवन भर बोलेगी ही नहीं।

“अले—मुनमुन।” जब सब प्रकार के आदर-स्नेह के पुकार से काम न चला तो बाबूलाल ने पुकारा। बालिका खिलखिला पड़ी और दूसरे पल गम्भीर होकर बोली—“मैं घर जाऊँगी।”

“लाओ भाई आओ, क्या लाना है तुम्हारा लाये देता हूँ। खड़, और ?”

“और लाल पेन्सिल, तीन लच्छे मोती, पीला रङ्ग।”

“अच्छा-अच्छा, पैसे निकालो। पतङ्ग के लिए भी चार पैसे ले आना मुनिया।”

(२)

इसी तरह लड़ते-भगड़ते, हँसते-खेलते बाबूलाल और उसकी छोटी सी स्वामिनी का शौशव बीत रहा था ।

उस दिन प्रातःकाल धूमकेतु-सा बाबूलाल पहुँचा । कमरे, दालानों में भाँकता फिरा, कभी भी बालिका न दीखी तो छत से भाँका । पैखाने के द्वार पर मिनी को बैठी देखकर उसका मुँह प्रसन्न हो गया । वह जाँच गया कि मुनिया अवश्य ही पाखाने गई है । उसने बिल्ली की पूँछ पकड़कर ज़ोर से खींचा । गुर्गकर बिल्ली ने पञ्जा मारा ।

“क्या है, क्या है ?”—कहकर बालिका निकल आई ।

“देखो न ! तुमारी मिनी ने मुझे काट लिया ।” बाबूलाल ड और त ज़्यादा कहता था ।

उसे चिढ़ाकर बालिका ने कहा—“तो हम क्या करें ? तुमने उसे मारा क्यों ?”

कुछ देर के बाद दोनों शान्त हुए । बालिका ने चाकलेट का ढिन्वा निकालकर उसके सामने रख दिया, “लो, पाँचवीं हिन्दी तुमने बहुत अच्छी तरह से पास की है । लो, यह है उसका इनाम !”

बालिका स्कूल जाती बाबूलाल अब घर रहता । बालिका की मेज़-कुर्सी साफ़ करता, किताबों को भाड़-पोंछकर रखता, कपड़े ठीक करता, और सड़क पर बैठा अधीरता से पथ की ओर निहारता रहता ।

मोटर पहुँचती, वह लपककर दरवाज़ा खोलता, किताबें हाथ में उठा लेता, और घर में हल्ला मचाता—“मुनिया आई है । महाराजिन, जल्दी खाना ठीक करो ।”

“बाबू ।” बड़े प्यार से बालक ने पुकारा—“बाबू, पढ़ोगे ?”

“किच्छे की किताब हम नहीं पढ़ते ।”

“नहीं रे बबुआ, अँगरेज़ी पढ़ेगा ?”

“कौन पढ़ायेगा ?”

“क्यों, मैं ।” गर्व से बालिका बोली, और अवाक् विस्मय से बाबूलाल उसे निहारने लगा । मुनिया उसे पढ़ायगी, वही छोटी मुनिया । किन्तु जल्दी ही उसे विश्वास आ गया; हाँ, वह ज़रूर पढ़ायेगी, फिर मेरी लाल मुनिया—है भी तो कैसी होशियार । कितनी ढेर सी किताबें पढ़ती है । बाप-रे-बाप, किताबों का पहाड़ कहो, पढ़े तो भला कोई दूसरी लड़की, मेरी मुनमुन है जो पढ़ रही है ।

वह बोला और आग्रह से बोला—“पढ़ूँगा ।”

प्रातः-सन्ध्या नन्हे-नन्हे गुरु छात्र बैठ जाते । अत्यन्त विज्ञ भाव से बालिका पढ़ाती और बाबूलाल पढ़ता । घर के लोग देखकर हँसते—एक कौतुक, एक आमोद से । अति शीघ्र बाबूलाल की पुस्तकें ख़तम हो जातीं और उसकी तीक्ष्ण मेधा की वार्ता बालिका घर-भर को सुनाती फिरती । जो काम कोई नौकर कर न पाता, छोटा बाबूलाल उसे अनायास कर लेता । सफ़ाई से रहता, सफ़ेद कपड़े पहनता, साबुन से स्नान करता, मालिक के घर रहता, मालिक जैसे बाल छुट्टावाता ।

माँ की बनाई रोटी उसे न रुचती, मालिक के घर भोजन करता । देख-सुनकर उसके जातिवाले उसका नाम धरते, हँसी उड़ाते । वह अवज्ञा से उस ओर देखता-न-देखता काम पर जुट जाता ।

प्रातः की झिलमिल में अखाड़े जाता, वहाँ मिहनत कर फिर मालिक के घर आता; चाय, रोटी खाता । उसके बाद बालिका के निकट पढ़ता । तब मालिक की चिठी लेकर पोस्ट आफ़िस जाता । सौखीनी सौदा वह ख़रीदता, चिठी-पत्री डाक में छोड़ता, मुनिया के साथ खेलता, पढ़ता, सन्ध्या समय पतङ्ग उड़ाता, मिनि को तंग करता । बस, दिन में वह काम करता इतना ही ।

मालिक का परिवार उसे सन्तान-सा स्नेह-प्रेम करता । उसकी प्रत्येक बातें मानी जातीं, और उसकी बुद्धि की प्रशंसा घर के सब लोग करते । बाबूलाल के बिना उस घर के किसी का दिन न कटता और न उन सब के बिना बाबूलाल का ।

आश्विन के प्रथम सप्ताह में बालिका बीमार पड़ गई, ठीक दुर्गा-पूजा के समय। रोग में रोग रानी रोग, मोतीभरा हो गया उसे, घर का घर उदास हो गया, अब कमरे दालानों में कोई न खिलखिलाता। मुट्ठी-भर चाँदनी सी, वसन्त की एक मुसकान सी छोटी बालिका पलंग पर लेट रही। डाक्टर, वैद्यों से घर भर उठा। सफ़ेद चादर पर मुट्ठी भर छोटी-सी बालिका आँखें बन्द कर पड़ रही। बाबूलाल के मुँह की हँसी, मन की खुशी बुझ-सी गई, किताबों पर धूल जम रही, उदास मुँह वह कोने में बैठ रहा। दुर्दान्त बालक सप्ताह भर के भीतर एक अनुभवी वृद्ध बन गया।

और मिनि ? मलाई पर मक्खियाँ भिनभिनाने लगीं, दूध पड़ा सड़ने लगा। बालिका के पलंग के मिनि ऐसी दबककर बैठी कि चूहे भी निर्भय होकर उसके सामने से घूमने-फिरने लग गये।

किन्तु अधिक आश्चर्य की बात तो है—मिनि और बाबूलाल की आन्तरिक मित्रता।

बालिका की बीमारी ने उन दोनों प्रतिद्वन्द्वियों को ऐसा निकटतर कर दिया कि वे कभी एक-दूसरे के बैरी रहे इस बात को वे स्वयं सोच भी न पाये। कदाचित् एक सी व्यथा, एक सा अभाव उन दोनों के मन में रहा हो। और उसी व्यथा ने दोनों के हृदय एक ही सूत्र में बाँध दिया हो।

बाबूलाल मिनि को उठाता, दूध पिलाता, और इधर-उधर देखता फिर धीरे से पुकारता—“मुनिया।” बालिका आँख खोलती, मस्तानी हँसती। बाबूलाल के नेत्र छलछलाने लगते।

कोई उम पुकार को सुन लेता तो बाबूलाल पर बिगड़ता—“बेचारी लड़की सो रही थी; तुमने जगा दिया। बाहर खेलो जाकर, भीतर मत आना।”

बालिका को माँ भुँझला पड़ती, “दस बार कहा है कि रोगी के कमरे में मत आया करो। फिर क्यों आएँ ? मुनिया-मुनिया, देखते नहीं वह बीमार पड़ी है ?”

बाबूलाल कहना चाहता कि मैं अन्धा नहीं हूँ, मुनिया यदि तुम्हारी दुलारी है तो मेरी भी कुछ है। मैं अन्धा नहीं हूँ। देख रहा हूँ मेरी मुनिया बीमार है। किन्तु वह कुछ न कहता। धीरे से हट जाता, आँसू न एक रुकते। उस दुखी बालक की वेदना कोई न समझ पाता। वह सोते-सोते पुकार उठता—“मुनिया !”

एकान्त में पीपल के नीचे सिर पीटता “नरम बाबा, मेरी मुन-मुन को अच्छा कर दो, नारियल चढ़ाऊँगा, चाँदी के बटन बेचकर पर-साद चढ़ाऊँगा।”

कदाचित् उस बालक की विनय देवता ने सुन ली, या तो बालिका की आयु रही हो। चाहे वह कुछ भी हो, धीरे-धीरे बालिका स्वस्थ हो गई। बाबूलाल के मुँह की हँसी लौट आई।

घर के लोग बालिका को लेकर वायु-परिवर्तन के लिए चले गये। बाबूलाल उन्हें स्टेशन पर पहुँचा आया और गम्भीर होकर घर में बैठ रहा।

(३)

दिन थे गर्मी के। पृथ्वी आग-सी उबल रही थी। ग्राम्य-पथ सूना था। खेतों में कटाई-बिनाई हो रही थी। बाबूलाल अपने गेहूँ काट रहा था।

छोटा नहीं, बड़ा बाबूलाल उस लू-लपट में घुटनों तक एक मैली घोती पहिने काम में जुटा हुआ था।

पत्नी भिरिया और भौजाई भगवन्तिया उसे सहायता दे रही थीं। छोटे-छोटे बच्चे वृक्ष के नीचे खेल रहे थे।

जाने कितने ही वर्ष हो गये बाबूलाल देश आया था, और तब से देश में रह गया था। काम करते-करते कभी उसका युवक-मन शैशव की ओर लौट पड़ता, और उस शैशव की शिशु-छाया में उसका मन एक शिशु ही सा गुम हो जाता, घण्टे बीत जाते।

माता पुकारती — “बेटा, कबरी का सानी-वानी न दीन जई का ?”

वह चौंककर उठता और काम में लग जाता, जाति-बिरादरी में जाता, घर-गृहस्थी संभालता। उसके व्यङ्ग-प्रसङ्गों में यौवन न समाता, किन्तु फिर भी मन रह जाता एक शिशु सा, और मन की छाया मुख पर पड़कर युवक बाबूलाल एक शिशु ही सा लगता। सोते-सोते कभी टुनुकने लगता—“हूँ-हूँ मुनिया।” पत्नी हिलाती, वह उठकर बैठ जाता, आँखें मल-मलकर चारों ओर देखता, निद्रा टूट न पाती, कहता—“मुनिया कहाँ चली गई।”

विस्मय से पत्नी पूछती — “हिआँ के बा ? केका पूछत हयो ?”

“छोटी मुनिया को।”

शङ्कित पत्नी सास को जगाती, कहती देख तो तनिक चल के। उनका भूत लगने हैं।”

घर में हल्ला मचता, सहमकर बाबूलाल उठ बैठता, उदास व्यथा से सब कुछ देखता-सुनता, फिर सो रहता।

“लाल मुनिया-लाल मुनिया” बच्चे हल्ला करने लगे। एक लाल मुनिया उसने पकड़ ली थी बाबूलाल एकदम चौंक पड़ा। उस लाल मुनिया की पुकार ने उसके हृदय में उथल-पुथल मचा दी। हँसिया हाथ से छूटकर पैर में धँस गई। खून की धार बह चली। घर के लोग दौड़ पड़े।

बाबूलाल घर पहुँचा, मिरजई पहिन ली, फटी-सी दरी में थोड़े से कपड़े रख लिये और तैयार हो गया।

माँ ने पूछा — “कहाँ केर तयारीबा।”

“मालिक के घर जा रहा हूँ।”

माँ ने तेल की पूरी और गुड़ बाँध दिया। दो दिन तो उसे रेल पर ही रहना पड़ेगा न।

वह दूसरे दिन शहर पहुँचा। शहर में और मालिक के घर में बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका था, किन्तु फिर भी उसे लगा सब ज्यों का

थ्यों ही । बाबूलाल वर्तमान और भविष्य को भूल गया । और अतीत का बालक बाबूलाल बना-बना वह खुशी से मचल-सा पड़ा ।

मालिक के घर पहुँचकर वह निःसंकोच भीतर जाने लगा । नूतन दासियों ने उसे रोक लिया और पूछा—“कहाँ से आये हो ? क्या माँगते हो ?”

उसने अवज्ञा से उस ओर देखा न देखा, फिर अधीर गति से भीतर चला गया ।

बगीचे में आरामकुर्सी पड़ी हुई थी, फूलों के बीच में कुर्सी पर बैठी थी एक सुन्दरी, वन-कन्या सी रम्यवती, परमसुन्दरी नारी । घने पल्लवों से घिरी, खींची हुई बड़ी-बड़ी आँखों में खुशी न समाती, पुष्प शाखा-सा शरीर में सौन्दर्य न समाता । मेघ-निविड केशों में यौवन न समाता । उस नारी के सामने बाबूलाल थमक रहा । विस्मय-विमूढ़ वह सोचने लगा—चम्पा से चम्पक-वर्ण-कन्या आज धरती पर कैसे उतर आई ! इसे तो मैं नहीं पहचानता, नहीं, नहीं, बिल्कुल नहीं ।

बालिका-कण्ठ की हँसी से बाबूलाल चौंका—हाँ ! यह हँसी तो उसकी चिर-परिचित है ।

उसने आँख उठाई । तितलियों सी धिरकती छोटी-छोटी बालिकाएँ लता-कुंज से निकल आईं । युवती को घेरकर पूछने लगीं—“माँ देखो तो यह कौन है ?”

“माँ” पुकार बाबूलाल ने सुनी । उसे जाने कैसा लगने लगा । माँ ! किन्तु वह तो आया था अपनी छोटी मुनिया को देखने, माँ को नहीं । क्या जाने वह उस माँ के रोदन से उसका हृदय भर गया । नहीं इस माँ को वह नहीं पहचानता, इससे उसका परिचय कुछ भी नहीं है । उसे लगने लगा—चिल्लाकर कह उठे—अरी राज्ञसी, यदि तेरे मन में माता दुबकी बैठी थी तो उसे बैठी क्यों न रहने दिया ? मेरी छोटी मुनिया को खून कर उसे क्यों सामने बैठा लिया ? क्या मेरी छोटी मुनिया इस माँ से कम सुन्दर

थी ! किन्तु वह बोला कुछ नहीं ! विमूढ़, विस्मय से उस नारी को देखने लगा ।

देखते-देखते बाबूलाल मुस्कराया, बड़े आदर से पुकार उठा—
“अले भुनभुन ।”

बालिकाएँ खिलखिला पड़ीं ।

लज्जा से बाबूलाल धरती में मुँह छिपाने लगा । युवती उठी । अपने पैर के पास पड़े हुए बाबूलाल के सिर को परम आदर से थप-थपाने लगी ।

और उस चिर-परिचित स्नेह की गोद में बाबूलाल एक शिशु सा निश्चिन्त पड़ा रह गया ।

“बाबू” —युवती ने पुकारा—“तुमने मुझे पहचाना नहीं बाबू ?”

उस विस्मित बालक-बालिकाओं की भीड़ में घिरे बाबू ने सिर उठाया । वह अस्वीकार करना चाहता था—मैं तुमको नहीं पहचानता, नहीं पहचानता । ठीक उसी पल में उसके नेत्र एक बालिका के मुँह पर पड़ गये । बाबूलाल का मुँह आनन्द, उल्लास से खिल गया । लपककर बाबूलाल ने उसे गोद में उठा लिया । “लाल, मुनिया, भुनभुन ।” वह रुक-रुककर हँस-हँसकर, चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगा—“मुनिया, मेरी मुनिया ।” पुकार-पुकारकर उसे शान्ति मिल रही थी ।

बालिका उसकी गोद से उतरने की चेष्टा करने लगी । बाबूलाल उसे लेकर बाहर भाग गया । क्यों ? क्योंकि उसकी मुनिया उसे मिल गई थी । उस चार वर्ष की लड़की के भीतर उसने अपनी मुनिया के हाथ की सरल रेखाओं को पा लिया था न ।

भूत का भय

उस दिन मिस्टर चौधरी के डिनर-टेबुल पर तर्क चल पड़ा—प्रेतयोनि पर । श्रीमती चौधरी, श्रीमती सक्सेना आदि को लेकर हम कई मिस्टर और मिसेस वहाँ उपस्थित थे । रात्रि की वेला में और भोजन के टेबुल पर वह तर्क सुहावना होकर रहा ।

ज़ोर की सर्दी पड़ रही थी । परन्तु उष्ण सुस्वादयुक्त खाद्य-द्रव्य ने उस शीतलता को सुहावना कर दिया । तर्क था प्रेत या प्रेत की केवल कल्पना मात्र है ।

सेशन जज प्रकाश तो हँसकर ही बात को उड़ाना चाहते थे । और प्रायः सब लोग उनके पक्ष में थे । विपक्ष में केवल श्रीमती सक्सेना थीं । वे कह रही थीं—प्रेत है—और अवश्य है । परन्तु उनका तर्क भित्तिहीन हो रहा था । मिस्टर नाग ने कहा—“मैं यह सब कुछ नहीं मानता । भूत-प्रेत भूठ है, कायरों की कोरी कल्पना है ।”

“आप कहते हैं ? किन्तु मेरे गाँव में जाइए तो भूत की ऐसी कथा...”

श्रीमती सक्सेना को रोककर बीच ही में मिस्टर नाग कह उठे—
“वह केवल कहानी ही है श्रीमती, वास्तविक कुछ नहीं । सब कहेंगे—हमने सुना है, परन्तु आँखों देखने की बात कोई न कहेगा ।”

मैं चुपचाप सब कुछ सुन रहा था, परन्तु अब कहना ही पड़ा—
“प्रेत नहीं, तो शायद एक अद्भुत रोगी मैंने देखा है । और कदाचित् उसे भूतग्रस्त आप कहें ।”

“आपने डाक्टर ?” गम्भीर-विस्मय के साथ प्रश्न हुआ । प्रश्न हुआ—बस इतना ही; क्योंकि मुझ-से एक विख्यात डाक्टर की बातों पर अविश्वास का भाव-प्रदर्शन करने में कदाचित् श्रोता संकुचित होते थे ।

“ऐसे मज़े की बात को अब तक छिपाये हुए थे ? भूतग्रस्त कैसा ? कहे-कहे ।”

मैंने मुँह उठाया । उस घटना के स्मरण से आज भी मेरा कठोर मन व्यथा से भर उठता है, और मैं उसे कहना भी नहीं चाहता— किसी से । किन्तु ऐसे आग्रहपूर्ण मित्रों के अनुरोध को आज टाल भी न सका । तो कह चला मैं—

“उस दिन भी ऐसी ही सर्दी पड़ रही थी । आकाश से मानों बरफ़ चुआ पड़ रहा था । रात ग्यारह बजने को थी । तब मैं अकेला मैं था ।

दिन भर का थका हुआ मैं उस शीतलता को सन्तोष के साथ आलिङ्गन किये हुए था । रात मानों मेरी अपनी थी, न पेशन्टों की पुकार थी, न प्रेस्क्रिप्शन लिखने की झंझट । रात्रि ऐसी थी कि जैसे अपने विकराल करों में आराम और शान्ति केवल मेरे ही लिए भरकर लाई थी । आरामकुर्सी पर हाथ-पैर फैलाकर पड़ा-पड़ा अखबार पढ़ रहा था । आग भरी अंगीठी पास ही रखी थी ।”

उतावली-सी श्रीमती जी पहुँच गईं—“सुना है तुमने ?” बोलीं वे ।

मेरी आँखें तब प्रायः मुद्रित थीं । वैसे ही पूछा—“क्या ?”

“तुमको सेना है, तो सोओ ।”

उनको इस तरह जाते देखकर मैं शङ्कित हुआ । सहमकर उठ बैठा । कातरता से पुकारा —“सुनो तो, ऐसी सर्दी में मुझे अकेला छोड़कर मत जाओ ।”

इतना तो मैं ज़रूर कहूँगा कि स्त्रियों में करुणा कुछ अधिक मात्रा में होती है । मेरा कातर स्वर सुनते ही श्रीमती लौटों । आकर पास की कुर्सी पर बैठ गईं । ज़रा सा हँसकर बोलीं—“ललित अभी सोया नहीं, महरी को देकर आई हूँ ।”

“क्या कह रही थीं अभी ?”

“क्या करोगे सुनकर, बस दवा और मरीजों को लेकर रहो, शहर में खून हो, भूख से कोई मरे या जिये तुमको करना ही क्या है ?”

इस बार मैं वास्तविक ही शङ्का से उनका मुँह निहारने लगा ।

“कहो तो कुछ ।”—एक अपराधी की तरह पूछा ।

श्रीमती को शायद दया आ गई, वे जमकर बैठीं—“ललित को पाखाना कराने के लिए महरी अखबार उठा लाई, तो मेरी दृष्टि उस भीषण लेख पर पड़ गई ।”

“तो बात क्या है ?”

बड़े उत्साह से श्रीमती कहने लगीं—“एक मुसलमान स्त्री दो वर्ष के शिशु को लेकर विधवा हो गई । मरते वक्त पति उसके लिए कुछ भी नहीं रख सका । भाई के घर गई । भाई भी गरीब, उस पर परिवार भी भारी । बेचारी परदे में रहनेवाली विधवा करती क्या ? किसी तरह ज़िन्दगी काटने लगी । मुसलमानों की पर्दा प्रथा को जानते ही हो, मज़दूरी भी नहीं कर सकती थी ।”

“हाँ—और कर सकती थी प्रेम ।” बीच में मेरे इस प्रकार टोकने से श्रीमती झुँझला पड़ीं । बड़ी कठिनाई से इस बार उन्हें शान्त करना पड़ा ।

कहने लगीं वे—“न कुछ समझा, न कुछ सोचा, योंही बेचारी स्त्री को दोषी बना दिया । वह दोषी कैसे ? अपने बचपन के खेल के साथी से पर्दा नहीं करती थी । वह व्यक्ति भीतर जाता आता था । इस पर लोग उसकी निन्दा करने लगे । भाई-भौजाई ने सुना, शायद कहा हो उस व्यक्ति से कुछ । अन्त में वह उस विधवा से निकाह करने के लिए तैयार हो गया । दो-चार घर न्योता भी दिया गया । निकाह का दिन, शायत-घड़ी निर्दिष्ट हो गई । रोटी बन चुकी, निमन्त्रित पहुँच गये और ठीक उसी संध्या में ख़बर मिली कि उस व्यक्ति ने उसी दिन कोई दूसरी स्त्री से निकाह कर लिया । इसके बाद जो होना था वही हुआ, बेचारी विधवा कलंकिनी ठहराई गई । बस, उसने किया तब इतना कि रात की चुप्पी में बच्चे को हृदय से लगाकर घर से निकल गई । उस घर में उसकी जगह थी नहीं । अपनी सार्थिन के घर गई । वहाँ भी शायद जगह न मिली हो, फिर वह जङ्गल में चली गई । न जाने कितने दिन

वहाँ भूखी-प्यासी पड़ी रही। और शायद एक आशा भी मन में रही कि ऐसी बड़ी दुनिया में उस अभागिन के लिए बित्ता भर जगह की कमी न होगी—कोई दाता, कोई मानव पुकारकर उसे बित्ता भर जगह दे ही देगा। किन्तु जब वैसा न हुआ तो वह भूखी-प्यासी नारी किसी तरह चलकर शहर के बाहर निकल गई। भूख के मारे उससे चला न जाता होगा, जीभ बाहर निकल आई होगी, आँखें भीतर धँस गई होंगी, और उस नरकझाल को देखकर शायद कोई रूपसी नारी आतङ्क से मूर्च्छित भी हो गई होगी।

किन्तु फिर भी उसे दुनिया में जगह ढूँढ़ना था—अपने और अपने बच्चे के लिए। चली गई शहर से बाहर। और अंत में मिल गई उसे जगह—बगीचे के भीतर एक सुनसान बँगला और वहीं पर तालाब। बस डुबो दिया उसने बच्चा। बच्चा शायद रोया—“माँ-माँ, मैं मर जाऊँगा, श्वास रुक रहा है। और शायद माँ ने वैसे ही शीघ्र उसे डुबो दिया फिर आप क्रूद पड़ी। सबेरे माँ-बेटे का मृत-शरीर तालाब के किनारे मिला।”

बात शेष कर श्रीमती रुद्ध श्वास से मेरा मुँह निहारने लगीं। तब तक मैं आरामकुर्सी पर लेट चुका था और सिगार भी पी रहा था। और जब समझा कि इस अनूठी कहानी को सुनने के लिए श्रीमती मेरे मुँह से कुछ सुनना चाहती हैं, तब मुझे कहना ही पड़ा—“पुरानी बात है। इस घटना को हुए कोई दो माह निकल चुके हैं।”

“तुम जानते थे? फिर मुझसे कहा क्यों नहीं?” हताश स्वर से श्रीमती कह उठीं।

“मैंने...”

किन्तु मेरे कुछ कहने के पहले दरवाज़े पर मोटर का हार्न बजने लगा। ब्याय दौड़ता आया। मिस्टर इक्क के बँगले पर कॉल है। और कोई होता तो ऐसी रात में टाल देता, किन्तु इक्क साहब के कॉल से इनकार करना मुश्किल था। कपड़े पहनकर जाना ही पड़ा—हाँ, श्रीमती का

मान भंजन किये बिना ही। मिस्टर हक शहर के एक शिक्षित और प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उनसे मेरा परिचय नहीं था, परन्तु नाम सुन रक्खा था।

इतना कहकर मैं चुप रहा। वह दृश्य मानों मेरी आँखों के सामने चित्रित हो उठा।

भोजन के बाद हम सब ड्राइङ्ग रूम में बैठे, और सिगरेट सुलगा ली। तब मैंने अपनी कहानी फिर से शुरू कर दी। श्रोता अधीर हो रहे थे, किन्तु मेरे लिए तो वही अच्छा होता कि यदि इसके आगे और कुछ कहना न पड़ता। किन्तु किया क्या जावे। मित्रों का और विशेष कर लेडियों का आग्रह टाल भी तो नहीं सकता था। हाँ, उसके बाद—

हवा जैसे उड़ी-उड़ी गाड़ी शहर से बाहर चली गई और पुष्प-उद्यान के भीतर एक बँगले के द्वार पर रुक गई। उस आधी रात की चुप्पी मानों उस बँगले को और वहाँ के अधिवासियों को निगलने जा रही थी। प्रेतों से निःशब्द गति से भ्रम्यगण इधर-उधर कुछ करते फिर रहे थे। एक स्त्री अन्दर से निकल आई। उसने अपने मुँह पर उँगली रखकर मुझे बात करने से रोका और इशारे से मुझे बुलाकर बँगले के कोने के कमरे में लिवा ले गई। कमरा बिलकुल सूना था। केवल बिजली का प्रकाश था। हाँ, कहने को तो भूल ही गया कि उस वक्त बँगले के सब बल्बों में धूमिल प्रकाश था। मानों एक गम्भीर रहस्य के भीतर वह बँगला बसा हुआ था और उस रहस्य में डाक्टर तथा मैं भी समाना चाहने लगा।

वैसी स्वच्छन्दता जीवन में मैंने कभी अनुभव नहीं की थी। मुझे वहाँ खड़ा करके वह स्त्री जाने कहाँ चली गई। मेरा श्वास रुकने-सा लग गया। कई मिनट निकल गये। और जब मैं वहाँ से भागकर निकल जाना चाहने लगा ठीक उसी पल में पहुँच गई एक क्षीणकाय सुन्दरी। जब तक मैं सँभलूँ कि वह मेरे पैरों से लिपट गई—“डाक्टर, मेरे पति को बचाओ।”

मुश्किल से उसे मैंने शान्त किया। कहा—“यदि इलाज के बाहर बीमारी न गई होगी तो पूरी कोशिश करूँगा। क्या रोग है—श्रीमती उन्हें !”

स्त्री मलिन हुई—“बीमारी ! ईश्वर जाने। कई डाक्टर बुलाये थे मैंने। सब कहते हैं—वे पागल हो गये हैं। वे तो डाक्टरों को पास नहीं जाने देते।”

“पागल हो गये हैं ?”

“नहीं महाशय, वह तो डाक्टरों की भूल है।”

“भूल है ?”

“हाँ, महाशय ! क्या आप मुझे पागल समझते हैं ?”

“कभी नहीं ?”

“बस तो वे भी पागल नहीं हैं। आप और हम जैसे हैं, वे भी वैसे ही हैं।”

“आप घबराइए नहीं। पहले एक बार रोगी दिखला दीजिए, फिर जैसा समझूँगा वैसा करूँगा।”

भीत और हताश-स्वर से वह बोली—“वही तो मुश्किल है।”

“तब इलाज कैसे हो सकता है, आप ही सोचिए श्रीमती।”

“किन्तु मैं क्या करूँ ? मुझ पर दया करो डाक्टर। किसी तरह उन्हें अर्च्छा कर दो।”

असमञ्जस में पड़ गया मैं। विचार कर कहा—“अर्च्छा, आप इतना तो कर सकती हैं कि अकपट भाव से रोगी का पूरा विवरण मुझसे कहें। कब से बीमार है, रोग के लक्षण क्या हैं, इत्यादि।” “इस मकान को खरीदना हमारे लिए काल हो गया डाक्टर। दो माह हुए इसे खरीदे और कोई महीना भर हुआ हम इसमें आये हैं। और यहाँ आने के दूसरे दिन से उनकी दशा बदल गई है। उस दिन रात में वे तालाब की सीढ़ी पर बैठे थे...”

“क्या यहाँ कोई तालाब भी है ?” बीच में मैंने टोका।

“हाँ, बगीचे के कोने में छोटा-सा तालाब है। उस रात में वहाँ से वे आये—बिलकुल बदले हुए। आपने शायद सुना होगा कि मेरे पति जैवा शौकीन, विलासी इस शहर में दूसरा नहीं है। क्या कहूँ, सिल्क के सिवा कभी उन्होंने शार्ट आदि सूती कपड़ों को पहना नहीं था, पानी में गुलाबजल या सेंट मिलाकर तब नहाते थे। किन्तु अब अब तो मोटे कपड़ों के सिवा कुछ पहनते नहीं। पहले दिन भर हँसी-आमोद में डूबे रहते थे, परन्तु अब दिन भर एक कमरे में चुपचाप बैठे रहते हैं। और रात में न जाने कैसे हो जाते हैं। उसी तालाब पर उन्मत्त जैसे घूमते रहते हैं। सो भी अकेले। और सबसे मुश्किल की बात है वे खाते नहीं। भूख से आँतें सूखी जाती हैं, भोजन पर बैठते हैं, किन्तु परसी हुई थाली के प्रति देखते ही न जाने कैसे हो जाते हैं। कभी अपनी आँखें ढँक लेते हैं। बिना खाये उठ पड़ते हैं। आधी रात में कभी चिल्लाते हैं—भूख, भूख।

और भी सुनिश्च, रात में खाद्य द्रव्य परसाकर अपने कमरे में रखवा लेते हैं। मैंने छिपकर देखा है कि ठीक रात बारह बजे वे उस थाली को लेकर तालाब पर जाते हैं और थाली समेत पानी में छोड़ देते हैं।” इसके बाद स्त्री चुप हो गई। और मैं गहरे विचार में पड़ा।

“इस वक्त वह कहाँ है?” पूछा मैंने।

“उसी तालाब पर गये होंगे या तो जा रहे होंगे।”

“आप मुझे छिपाकर वहाँ तक ले जा सकती हैं?”

“चलिए।”

उसने रास्ता बतला दिया। भाड़-पेड़ों में छिपता हुआ मैं तालाब तक पहुँच गया। एक वृक्ष के पीछे खड़ा हो गया। उस दिन चाँदनी धरती पर फूल सी रही थी। कुछ ही देर के बाद एक गौरवर्ण सुन्दर व्यक्ति हाथ में थाली लिये तालाब पर पहुँच गया। थाली जल में छोड़कर वह तालाब की सीढ़ी पर बैठा और एकाग्र दृष्टि से जल के तल देश में कुछ देखने लगा।

अचानक वह उठा और तालाब के चारों ओर कुछ ढूँढ़ने-सा लगा, फिर हठात् वह अपने ही हृदय पर अपने कानों को लगाने का प्रयास करने लगा। इस तरह, जैसे कि अपने हृदय की प्रतिध्वनि को सुनना चाह रहा हो। शायद बीस, पच्चीस मिनट इसी प्रकार निकले हों। तब वह आकाश के प्रति मुँह उठाकर खड़ा हो गया।

मैं धीरे-धीरे चलकर उसके पास पहुँचा, कोमल स्वर से पूछा—“महा-शय, रास्ता भूल गया हूँ, ज़रा...।”

“चुप-चुप।” फुसफुसाकर कहने लगा वह—“चुप-चुप, सुन नहीं रहे हो ?”

“क्या ?”—वैसे ही धीरे से मैंने पूछा।

“वह चिल्ला रहा है—भूख भूख। उसकी भूख हवा में भर गई है। सुनो—सुनो।”

एक जानकार की तरह मैं कह उठा—“हाँ, हाँ सुन तो रहा हूँ।”

“भूख से, प्यास से उसकी आँतें जली जा रही हैं। देख रहे हो न—हवा के प्रत्येक कम्प में उसके पेट की सूखी आँतों को और तृष्णा से विकल फटी हुई आँखों को ?”

“हाँ, हाँ, देख तो रहा हूँ।” यदि सच पूछो तो वहाँ कुछ भी नहीं था, किन्तु फिर भी रोगी को अपने वश में लाने के लिए ऐसा कहना ही पड़ा।

इसके बाद वह अपने हृदय पर कान लगाने की चेष्टा करने लगा।

मैंने पूछा—“क्या सुन रहे हो ?”

“भूख भूख, हृदय के स्पन्दन में यही पुकार है—भूख भूख। लो तुम भी कान लगाकर सुन लो ”

“क्या सुनूँ ? मेरे हृदय में भी तो वही ध्वनि है न।”

वह सिर हिलाकर कहने लगा—“ऐसा तो होगा ही।”

“चलो, हम-तुम मिलकर कुछ खा लें।”

भय से वह सिहर उठा, आर्त-चीत्कार सा कर उठा—“नहीं-नहीं। भूख-भूख।”

“चलो”, मैंने उसका हाथ पकड़ा—“भोजन से क्षुधा की निवृत्ति होती है।”

“किन्तु खाऊँ कैसे ! सुनते नहीं—हृदय-रन्ध्र में यह वैसा आर्त-चीत्कार है, भूख—भूख।”

“सुन जो रहा हूँ भाई। चलो।”

उसे बँगले में लेकर आया। उसकी पत्नी शीघ्रता से भोजन ले आई। थाली देखकर रोगी एकदम चिल्ला पड़ा—भूख—भूख।

मैंने अपने मुँह में एक ग्रास उठा लिया और दूसरा उसके मुँह में भर दिया। मुश्किल से इसी तरह कुछ थोड़ा-सा उसने खाया।

स्त्री कृतज्ञ नेत्रों से मुझे देखने लगी। दूसरे दिन आने का वचन देकर प्रायः प्रातःकाल मैं घर पहुँचा। और इसके बाद छः दिन तक मैं उसके साथ रहा। किन्तु फिर भी रोग का निर्णय न कर सका। शायद और कुछ दिनों में कर भी लेता। दिन भर वह सहज बातें करता, किन्तु बोलता बहुत कम। और रात में एकदम बदल जाता।

सातवें दिन मेरे घर से तार आया—पिता बीमार हैं। सो उसी वक्त छुट्टी लेकर घर चला आया। उसके बाद यहाँ की बदली हो गई। अकोला में फिर मेरा जाना न हुआ। और आज तक वह एक रहस्य ही-सा रह गया। न जाने मिस्टर हक अब कैसे हैं।

मैं चुप हो गया। कमरे में गहरी निःस्तब्धता-सी छा गई।

देर के बाद—पहले बोली श्रीमती सक्सेना—“न तो हक साहब पागल हुए हैं, न उन्हें कोई बीमारी है, यह सब भूल-प्रेतों का खेल है।”

तन्द्राच्छन्न की तरह मिस्टर बोस बोले—“मैं कल ही अकोला पहुँच-कर मिस्टर हक को देखूँगा।”

इस कहानी के बाद फिर वह सभा जम न सकी, मानों एक तन्द्रा के भीतर से सबने बिदा ली। घर पहुँची तो रात बारह की घंटी टनटना उठी, और न जाने क्यों मेरे प्रत्येक रोम सिहरकर खड़े हो गये।

—

गिलहरी क जोड़े

दुनिया यदि आज मुझ भूल भी गई हो; तो विस्मय नहीं, परन्तु उसकी स्मृति आज भी इस कारागार में बैठे मुझ जैसे एक राजद्रोही बन्दी के मन में उज्ज्वलतर होकर है। बात यह अत्युक्ति नहीं है।

और भविष्य की बात ? किन्तु उस अनजान भविष्य में यह स्मृति यों ही दोषमान, हरी होकर रह सकेगी या नहीं ? इसे कह सकने का दम्भ अन्ततः मैं नहीं भर सकता हूँ।

जेल मुदढ़, 'छड़दीवाली' में घिरा खड़ा रहा करता—अलाउद्दीन के बिकराल दैत्य की तरह। गरमी की लूलपटों से भरी-भरी दोपहरी, कार्यरत मौन, मूक कैदियों की श्रेणी। चक्की पीसने की घर-घर ध्वनि और पत्थर तोड़ता हुआ क्लान्त, श्रान्त, मैं। जैसे दुनिया ने इस जेल की परिधि को निर्वासन-दण्ड दे रखा हो। दुनिया की ज़िन्दगी भरी हवा की पहुँच छड़दीवाली के अन्दर हो नहीं पाती। नित-नवीन अनोखी वार्ता पहुँच नहीं पाती। आत्मीय-परिजनों की आकृति एक स्वप्न की छाया बनी रहती।

सो मैं और दुनिया से निर्वासित मेरा यह जेल। निर्वासन ही तो है। दुनिया ने दिया है निर्वासन-दण्ड। भूल गई है वह उसी के एक अपने व्यक्ति को।

फिर मैं अपनी प्यारी दुनिया को भूलता भी कैसे ? उसकी स्मृति, सुखी, दुख, व्यथा जर्जरित, उल्लास-उरअन्तर की स्मृतियाँ बासी, होतीं भी

कैसे ! स्मृतियाँ बासी हो न पातीं, मृत्यु-मुख में पहुँच न पातीं । स्मृतियाँ रही आतीं अम्ल न ।

दुनिया यदि मुझे त्यागकर सुखी हो, तो हुआ करे, मैं उसे त्याग नहीं सकता हूँ ।

× × × ×

कैसी सुख-दुख भरी, हरी स्मृतियाँ । उस ग्रीष्म की मध्याह्न-वेला, परन्तु खस की टट्टियाँ उस वेला को तप्त होने न देतीं, फ़ैन की शीतल वायु होम शीतल करे रहती मेरे उस दवाखाने को । कम्पाउण्डर दवा बनाते-बनाते थक चुका था । मेरी कुर्सी के चारों तरफ़ लगी थी तब भी मरीजों की भीड़ । और तब पहुँची थी वह युवती रजनीगन्धा । भीत, त्रस्त नेत्रों से बार-बार द्वार प्रति निहारती, कहने लगी थी वह— “मैं हूँ रजनीगन्धा, बचा लो, मुझे बचा लो, उन दानव-दानवी के हाथ से मुझे-मुझे बचा लो ।”

सो तब रोग-यातना को भूलकर पल भर के लिए शायद रोगीगण की विस्मित दृष्टि उठ गई थी उस ओर ।

“बात कुछ सुनूँ तो साफ़ ।”—पूछा था मैंने ।

“वहाँ मैं रह नहीं सकती, नहीं ही रह सकती हूँ ।”

“सो क्यों ?”

“अपने शरीर को बेच नहीं सकती हूँ ।”

“इतना-सा मन का बल भी नहीं है तुममें ? और तुम—वही तुम आदमी कहलाने को मरी जाती हो ?”

“मन का बल ?”—जैसे रह-रहकर, श्वास रोक-रोककर कह उठी थी वह ।

“बल ही । सो आदमी होकर तुम—वही तुम आई हो दूसरे से सहायता माँगने ! अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकती हो ? ज़रूरत पड़ गई है दूसरे की, सो भी अपने आपको बचाने के लिए । इस कापुरुष की तरह जीने में कोई सार्थकता नहीं; जाओ, अपनी रक्षा

स्वयं आप करो। यदि दुनिया में आदमीयत के साथ रहना चाहती हो, तो मन में ताकत भरो, जाओ।”

और तब उसने निविड़ नींद भरी, विस्मयाकुल, असहाय दृष्टि उठाकर एक बार मेरी ओर देखा, तब चल दी थी।

उसके बाद वही तो एक बात है, जिसे मैं भूल नहीं सकता हूँ। दूसरे दिन भरी साँझ को, जब कि मैं मरीजों से घिरा-घिरा बैठा था दवाखानों में, तब पहुँच गई वह—आँधी की भाँति, मैंने उस ओर से मुँह फेरना चाहा, किन्तु न जाने क्यों फेर न सका। और जब वह कुछ कहने को हुई और शायद मैं भी सुनने को हुआ, तब फोन की घण्टी बज उठी। मित्र का फोन था। उसे सुनने के बाद पल भर भी मैं रुक न सका।

सो दूसरे दिन राजद्रोह अपराध का बन्दी मैं जेल का रास्ता तय करने लगा, तब कितनों ही के मुँह पर उस वेश्या पगली की आत्महत्या की कहानी थी। चौंका, काँपा फिर भी उस बाहित शव के प्रति आँख उठाकर देखा, था वह—वही रजनीगन्धा, वही भोली लड़की, जिसे कि सहायता देने के बदले मैंने मौत की गोद में ढकेल दिया था।

सो सबसे बड़ी विस्मय की बात तो यह है, कि देश के लिए उत्सर्गित यह मन, स्वावलम्बी, देश के लिए अपनी सत्ता को खोया हुआ बलेकर मुझ जैसे व्यक्ति के मन में भी यह घटना काँटा-सी चुभ कर रही, सो भी गुलाब, बेर का नहीं, बबूल का नोकीला काँटा। दुनिया चाहे मुझे भूल जावे, परन्तु मैं उसे नहीं भूल सकता हूँ।

(२)

दुनिया को भूलूँ भी तो कैसे ? अभी उस दिन की बात है, मेरे परिजन-हीन, आमोद-प्रमोद-हीन जेल-जीवन के साथी थे वन के दो जीव-गिलहरी के जोड़े। वे कब से मेरे साथी बने, कैसे उनसे पहचान हो गई, कहाँ से वे आये, सो मैं कुछ नहीं जानता। भोजन के जूठे बर्तन

माँजते वक्त देखा वे दोनों—उच्छिष्ट अन्न को परम परितोष से भोजन कर रहे हैं। मुझे अपनी ओर ताकते देखकर जैसे वे चैतन्य से हुए। अविश्वास से शायद मुझे उन्होंने देखा और दुम उठाकर खुरखुराते पुराने बरगद के वृक्ष पर चढ़ गये। फिर न जाने किस पोहर में छिप रहे। उसी वृक्ष के तलदेश में ही तो मैं ज़मीन के अन्दर पैसे-रुपये छिपाकर रखता था न ?

दोपहरी के सन्नाटे में पैसे खोदकर निकाल रहा था, खुर-खुर-खुर-खुर, सूखे पत्तों पर ध्वनि उठी। लौटकर देखा, पाया उन्हीं गिलहरियों को अपना साथी। मैं ज़रा हटकर खड़ा हो गया, विस्मय के साथ देखा मेरे खँचित स्थान को वे दोनों पंजे से खोद रही हैं। सूखी रोटी के टुकड़े फेकने लगा और वे आग्रह से भोजन करने लगीं।

वन्य-पशु से मानव की प्रथम सख्यता इसी प्रकार हो गई। उस सून जेल-जीवन के साथी बने वे गिलहरियों के जोड़े।

दोपहर का विरक्तिकर, श्रमसाध्य पत्थर तोड़ना एक दिन मेरे निकट सुहावना बन बैठा। मैं पत्थर तोड़ा करूँ, वे दोनों मेरे आस-पास घूमा करें। एक पीठ पर चढ़ जावे, तो दूसरी मुँह में मुँह डालकर जैसे प्यार करने लगे।

एक दिन रात में मैं सोते से जागा। सहसा सर्प का भ्रम हुआ। पूर्ण शक्ति से पैर भटकारा। बिचारी गिलहरी दूर जा गिरी—अधमरी सी। दूसरी गिलहरी—जो शायद उसका पति हो, मेरे कम्बल से निकल कर अपनी पत्नी के पास गया।

मेरे जी में जोर का धक्का लगा, देखो तो सही, जो ऐसे विश्वास निर्भयता के साथ मेरी सूनी घड़ियों को सुहावनी किया करती हैं, अपने को मुझे सौंप बैठे हैं, उन्हीं को मैं मौत के मुँह तक पहुँचा दूँ। जल्दी से उठा, पानी लाकर उसके मुँह में डाला, गोद में उठा लिया। और तब उसका पति अविश्वास से दूर खड़ा मुझे घरने लगा। मैंने उसे प्यार करना चाहा, वह दूर जा बैठा।

प्रातः की वेला तक गिलहरी स्वस्थ हो गई और तब दोनों वृद्ध पर चढ़ गईं । इसके बाद वे दोनों दो दिन तक जैसे मेरी छाया तक से घृणा करती दूर-दूर ही आईं । भोजन लेकर मैंने कितना बुलाया, नहीं आईं । भोजन वृद्ध के नीचे रखकर हट आया । परन्तु उस लालच को भी जैसे उन्होंने ठुकरा दिया । दूर बैठी वे मुझे घूरने लगीं । दो दिन तक मुझसे भी आहार न किया गया ।

तीसरे दिन प्रातःकाल वह मादा गिलहरी पुनः मेरे पास पहुँची । परम आदर से उसे मैंने गोद में उठा लिया । वह एक अभिमान से मुँह छिपाये रही । असीम विस्मय से मैंने पशु की इस अनुभूति को देखा ।

धीरे-धीरे फिर हममें मित्रता गहरी हो गई । उस दिन प्रातः के पूर्व ही मेरी नींद खुल गई । वस्त्र के आकर्षण से उठ-बैठा । नर-मेरे वस्त्र को पकड़कर खींच रहा था ।

अन्त तक मुझे उठना ही पड़ा, पथ-प्रदर्शक की भाँति वह आगे-आगे चल पड़ा । उसी वृद्ध के नीचे आकर खड़ा हो गया और असहाय-दृष्टि से मुझे निहारने लगा । मैं कुछ समझा-सा । वृद्ध पर चढ़ गया । वृद्ध-कोहर में मादा गिलहरी अचेतन पड़ी थी, दो नवजात बच्चे चुलबुला रहे थे ।

कुछ क्षण तक मुझे निर्वाक रहना पड़ा । फिर उन सबको सावधानी से लेकर उतर आया । उसके बाद कार्य का अवसर, समय रुग्ण गिलहरी और बच्चों की परिचर्या में व्यतीत हुआ करता ।

स्वस्थ होने के साथ ही साथ वह परिवार मेरे घर के छप्पर में रहने लग गया । पति-पत्नी और दो दृष्ट-पुष्ट, फुर्तीले बच्चे ।

(३)

मुझे विस्मय है कि पशु के साथ मनुष्य की ऐसी मित्रता, ऐसा प्रेम हो ही कैसे सकता है । हम सब एक ही थाली में भोजन किया करें, मुझे वे गिलहरियाँ दिन-रात घेरे रहा करें, शरीर पर चढ़ा करें, सोते वक्त

सिर के बालों को सुहलाया करें। बच्चे धूम मचाकर मुझे सोते से जगाया करें।

इस प्रकार वह दिन निकटवर्ती हो गया—मेरे जेल से छुटकारा पाने का। कुल तीन दिन बाकी थे। एक ओर थी दुनिया की स्वाधीन हवा, दूसरी ओर जेल की बन्द कोठरी में गिलहरियों का अनाहत प्रेम। उभय आकर्षण में आकर्षित मैं रह गया जड़-भरत सा।

उस दिन,—हाँ, उस दिन को आज जैसी लूलपटों ने वैशाख की दोपहरी को कष्टप्रद, ज्वालामुखी की तरह बना रखा था। पसीने से भीगा मैं पत्थर तोड़ रहा था। गिलहरियाँ मेरे चारों ओर धूम मचा रही थीं।

हाथ का लौह-यन्त्र उठा—जैसे कि सदा उठा करता था। और वैसे ही गिरा।—चूँ-चूँ-चूँ-चूँ। उस आकुल व्यथातुर आर्तनाद से मैंने आँख उठाकर देखा। मादा गिलहरी स्तब्ध मरी पड़ी थी। नर और बच्चे उस पर पछाड़े खा रहे थे।

मैंने ! हाँ—हाँ, मैंने ही उसे मार डाला। अपने मित्र, अपने प्रेमी, अपने जेल-जीवन की साथिन को मार डाला। चाहे अनजान ही मैं क्यों न हो, परन्तु घातक तो मैं ही हूँ न। निरपराधिन का प्राण-घातक।

अनुताप अनुशोचना ने मेरे नेत्र के आँसू तक को रोक दिया। उस मृत शरीर को छूने की स्पृहा मुझमें न थी। नर गिलहरी को गोद में लेकर मैंने बात समझाना चाहा। वह फुसकारकर हट गया। उसे मृत गिलहरी के निकट से किसी प्रकार भी हटा न सका। सन्ध्या समय उदास मन कमरे में लौटा। बच्चे तक मेरे पास से भाग गये।

मेरा आग्रह, यत्न सब कुछ व्यर्थ गया। दो दिन तक नर गिलहरी को अन्न-जल ग्रहण न करा सका, न उस दुर्गन्धपूर्ण शव के निकट से हटा ही सका। न बच्चे ही मेरे पास आये। दूर से देखकर भाग जाते।

तीसरे दिन प्रातःकाल—जेल से निकलने की वेला पैर मेरे उस ओर बढ़ गये।

नर गिलहरी पत्नी के निकट मरा पड़ा था। दो बूँद आँसू पोंछकर उन दोनों को गड्ढे में तोप दिया। बच्चे मुझे देखकर भाग गये।

एक ग्लानि अवसाद लेकर बाहर निकला। मित्र, बान्धव पुष्पहार लिये मेरी अगवानी के लिए खड़े थे। मुझे लगा—घातक के लिए वह एक खासा परिहास है, है—आयोजन।

सो, दो वर्ष के बाद राजद्रोही मैं जेल में आकर बसा हूँ, उसी जेल में, उसी कोठरी में, वही वृद्ध, वही गिलहरी के जोड़े, वे ही बच्चे बड़े होकर जैसे अपने माता-पिता के समान हो रहे हैं। वही छड़दीवालियों से घिरा जेल, वहीं लू-लपटों में बैठकर पत्थर तोड़ना। सब वही है, लगता है—जैसे एक घातक के लिए विश्व ने व्यंग-परिहास को इकट्ठा कर रख छोड़ा है।

है—सब कुछ वही है, परन्तु दो वर्ष पहले के उस फुर्तीले मन का कहीं पता तक नहीं है। किसी एक दिन इसी जेल में, इसी वृद्ध के नीचे, मन की स्फूर्ति, मन का साहस, गर्व खो गया था, वह खोया ही रह गया, उसे लौटाकर मैंने न पाया।

एक विस्मय के साथ कभी विचारता हूँ—मैं वही हूँ—जिसके इन्हीं हाथों ने कितने ही अत्याचार के विरुद्ध तलवार तानी होगी, इन्हीं हाथों ने आततायी को मार गिराया होगा, इन्हीं हाथों ने विजय-गर्व से आगे बढ़ने के लिए कितनों ही को पथ दिखलाया होगा। आज वही हाथ हो रहे हैं अशक्त, अकर्मण्य। यही मन है—जहाँ साहस की कमी, कर्म उत्साह की कमी कभी न हुई होगी, निरुत्साह, अनुशोचना, अनुताप कभी न जागा होगा, वही मन में आज जैसे चिता की आग धधक रही है।

सो आज ? क्या हो गया है उस मन को ? हत्यारा हूँ ? विश्वास-घाती हूँ ? कापुरुष हूँ ? परन्तु यदि अपने अनजान के कोई अपराध किया जावे, तो क्या उसे भी अपराधी कहना चाहिए ?

नहीं। परन्तु हृदय का यह काँटा, यह व्यथा। यह दर्द।

गिलहरी के जोड़े आज भी वैसे ही फुदका करते, मुझे देखकर दूर भाग जाते। लगता—घृणा से वे दूर रहते हैं। होगा भी।

बस यही तो एक बात है। यदि दुनिया अपने इस निर्वासित सन्तान को भूलना चाहे तो भूले, परन्तु उसकी सन्तान उससे भूले भी तो कैसे? चलचित्र के समान प्रतिपल में शतरञ्जों का खेल चला हुआ है, उससे बचूँ भी कैसे?

एक आर्तनारी का मुख कभी हृदय के किसी कोने में भाँक उठता है, और उसे भी आड़ कर अड़ जाते हैं गिलहरी के जोड़े के, एक रक्ताक्त गिलहरी।

सोचता हूँ—निविड़—विस्मय से विचार उठाता हूँ—मनुष्य-प्रभाव से क्या पशु का प्रभाव भी बढ़ा है?

सोचता हूँ उस नारी और गिलहरी की मृत्यु का कारण यदि मैं एक ही व्यक्ति हूँ तो उस मृत नारी के शव आधार पर रक्ताक्त गिलहरी क्यों पड़ रहती है? और उस नर गिलहरी का करुण क्रन्दन एक अभिशाप की तरह मानव-स्फूर्ति पर क्यों बोझ बनकर बैठा है?

कौतुक

तो उस दिन हँसा था सूर्य, पलकों में कौतुक, कौतुक में हँसी का आवेग लिये। तो उस दिन हँसा था सूर्य।

शहर का जन-बहुल पथ, चित्र-विचित्र अट्टालिकाओं की श्रेणी, मोड़, अजगर सा मध्य में अड़ा हुआ वह पथ—राजपथ।

बृहत् अट्टालिका की प्रशस्त छत, छत पर उस ओर बैठा था वह अशोक—विशाल वृक्ष के ठीक नीचे—आरामकुर्सी पर, पीपल के हरे पत्तों से छनकर मीठी-मीठी धूप आती थी। छत के बाक़ी अंश में सुनहली धूप चलती-फिरती थी। पथ के उस ओर अति बृहत् छतयुक्त अट्टा-

लिका। छत की एक ओर द्वारमुक्त सजित कमरा। और छत पर तरुणीगण।

पढ़ रहा था अशोक मोटा सा उपन्यास। उस छत पर लड़कियों की भीड़ में गल्प जम उठी थी। अशोक का हृदय पूर्ण था—अतुल धन-सम्पदा, शिक्षा, आभिजात्य के गर्व से। लड़कियों के चित्त में प्रसन्नता थी—लम्बी छुट्टियों से। बी० ए० और एम० ए० की छात्राएँ दीर्घ अवकाश की खुशी मनातीं। पारुल, देविका, अमला, कमला के घर निमन्त्रण रक्षा को जातीं। उस दिन निमन्त्रण में आई थीं मेघरानी के घर।

मेघवर्ण, मेघरानी, सहस्र स्फुटोन्मुख पद्म जैसा रूप, मेघ जैसा रङ्ग, इन्द्र की-सी बुद्धि, तलवार की धार जैसा आत्म-मर्यादा का ज्ञान। न किसी पर ईर्ष्या, न किसी से द्वेष। न किसी से कलह और न उसकी सम्भावना ही। न भाई, न बहनें, धनवान् पिता की एकमात्र कन्या। धुली कमल सी अपने-आप में मस्त, श्वेत पद्म सी साड़ी पहने, कानों में हीरे की झरिङ्ग, गले में सादी गुरियों का हार, हाथ में चौखुटे काँच जड़े काँच की मोटी चूड़ियाँ। हँस-हँसकर बातें कर रही थी सह-पाठियों से।

और जब अशोक का निश्चिन्त चित्त उपन्यास में पूर्णतः गुम हो जाने को था, बस तभी की बात है।

न नई, न पुरानी, और न अति आधुनिक। बात है इतनी ही, कि तब वह सहसा ऐसा चौंका कि हाथ की भारी पुस्तक ज़मीन पर गिर पड़ी।

अशोक ने एक हाथ उठाकर आँख पर रख लिया जिससे कि वह चमकते हुए शीशे के प्रकाश से बचे, जो कि उसकी आँख पर गिर रहा था।

एक—दो—तीन। बचना कैसा! उसके मुख पर, सारे शरीर और दाहिने ओर के कमरे के रुद्ध द्वार पर न जाने कितने ही छोटे-छोटे दर्पणों की छाया चमकने लगी।

उस जैसे विलायती डिग्रीधारी, धनी, मानी, सम्भ्रान्त युवक से और यह परिहास ! और फिर ऐसा परिहास करनेवाला है ही कौन ! ज़रा देखूँ तो उसे ? है कैसी यह स्पर्द्धा ! वह उठा और इधर-उधर दृष्टि फेरते समय सहसा उसकी दृष्टि पड़ गई उस छत के फूले कमलों पर ।

रह गया विस्मित अशोक । तो उस मकान में कब से जनसमागम हुआ ? प्रायः दो वर्ष से वह खाली ही पड़ा हुआ था न ? इतने लोग उसमें आकर बसने लग गये और उसे कुछ भी पता नहीं ? और यह—विचार के मध्य ही में चमक उठी वह हीरक सम ज्योति ।

उसने दोनों हाथ से आँखें दबा लीं । कैसी असम्य हैं ये लड़कियाँ ! कैसी है यह स्पर्द्धा ! एक विलायत-प्रत्यागत, सर्वमान्य, असाधारण व्यक्ति से यह मज़ाक ! क्या वे नहीं जानतीं, कि यह है कौन ! जिसने कि हज़ारों लड़कियों को विमुख कर दिया, शत-सहस्र धनवान् पिता की पुत्रियों को निराश कर दिया । ऐसा एक व्यक्ति वह और उसी से यह परिहास ! जिसे जामाता के रूप में पाने के लिए कन्याओं के पिता लालायित रहा करते हैं, एक ऐसे से ये छेकड़ियाँ उपहास करें ? जिसने आज तक किसी भी पात्री को मनोनीत नहीं किया, फिर करता भी कैसे ? उसके योग्य कन्या हों—तभी न । उस असीम रूप, गुण और विद्या-सम्पन्न व्यक्ति से मेघरानी ने छत पर से अशोक को ऊपर आने के लिए इशारा किया ।

ऐसा परिहास ! अशोक ने घृणा से मुँह फेर लिया । वह नारी-मात्र से घृणा करता था न ।

और अशोक जैसे ही ज़रा हटकर बैठने को हुआ, वैसे ही वह हीरक सी चमक उसकी आँखों में पड़ी छोटी ज्योति वही आइने की ।

दुर्निवार क्रोध से कम्पित अशोक उठकर बिलकुल उस छत के सामने खड़ा हो गया ।

विस्मय से स्तब्ध वह गुलाब की श्रेणी । और तब आखिर सत्यवती फूट ही पड़ी—“कैसा असम्य है यह व्यक्ति ।”

“असम्य और अपढ़, गँवार, देखो न इस तरह आँखें फाड़े मुँह बाये खड़ा है, जैसे हम लोगों को निगल ही जायगा।” रेवा ने कहा।

सुरेखा ने टोंका—“मेघी, तेरा पड़ोसी शराबी है क्या?”

मेघरानी—जो कि अब तक निर्वाक, विस्मय-विमूढ़-सी थी, ज़रा सहमी; बोली—“कौन जाने, होगा भी। मैं तो इसे आज ही देख रही हूँ। इस असम्य व्यक्ति के लिए जगह इस सम्य दुनिया में हुई ही कैसे? तब से तो मैं यही सोच रही हूँ देविका।” मेघरानी का स्वर आवेग, क्रोध से उच्चता के परे था। सुना अशोक ने और तब जैसे उसकी चेतना लौटी। एक बार घृणा से भरी दृष्टि उस ओर डाली, तब राधा जैसी चाल से धीरे धीरे अकड़ता हुआ चलकर वह आरामकुर्सी पर बैठ गया। चेयर पर सामने को हटा ली।

हिः-हिः-हिः, हा-हा-हा, उस छत पर सुन्दरियों के मेले में जैसे श्रावण की झड़ी लग गई हो। एक दूसरी से भूम-भूमकर वे हँसने लगीं; जैसे उस विलायत-प्रत्यागत की सत्ता की सम्पूर्ण उपेक्षा कर रही हों। और वैसे ही क्षुद्र दर्पणों की ज्योति दीवारों पर अशोक की आँख, मुख, सर्वाङ्ग में थिरकने लगी। और तब अशोक? किन्तु वह बेचारा करता ही क्या! क्लान्त, पराजित, अपमानित सा वह उठा और कमरे के भीतर जाकर द्वार बन्द कर दिया।

जो होना था वही होकर रहा। उस रुद्ध द्वार पर हंसी की खिल-खिलाहट पछाड़ें खाने लगीं।

(२)

उस दिन सुनहली थी धरती, स्वर्णदीप की ज्योति में थी पहेली, पहेली में रस और रस में वर्षा।

अशोक का कमरा, वही कमरा, सज-धज कर एक अवगुणितता नव-वधू सा, सो अशोक दर्पण के सामने खड़ा टाई बाँधने में व्यस्त हो रहा

था। सामने की खुली छत पर राशि-राशि धूप लोट रही थी। उस ओर के मुक्त वातायन के ठीक सामने पड़ेसिन की वही छत।

अशोक टाई बाँधकर खिड़की पर पहुँचा सिगरेट-केस लेने के लिए। चम-चम-चम-चम चमक उठे वे लुद्र दर्पण। दृष्टि पर उसकी धुँधला-पन छा गया। ज़रा हटकर अशोक ने विवश-क्रोध से उस ओर देखा। छत पर खड़ी एक स्त्री अँगुली-द्वारा भीगी केश-राशि सुखा रही थी।

सब शौताना इसी की है, मेरे मुँह पर आईने की रोशनी ज़रूर यही फेंका करती है। हाँ,—हाँ, यही तो है—रोशनी—आई—आई। वह जो चमक रही हैं छोटी-छोटी ज्योति। कैसी धूर्त है। हाथ में छिपाये हुए है आईनों को और बाल सुखाने के बहाने मेरे मुँह पर फेंक-फेंककर मेरी हँसी उड़ाती है। अच्छा, देख लूँगा मैं इसे। सोच रहा था अशोक।

“मेघरानी।” उस छत की सीढ़ी पर से किसी ने पुकारा।

“तुम्हारे सितारमास्टर आए हैं।” उस पुकारनेवाले ने कहा।

“मेघरानी ! अशोक मन में हँसा—नाम भी कैसा मीठा रख लिया है। इस धूर्त लड़की का नाम मेघरानी !

“चलो, आती हूँ।” बोली मेघरानी।

आर आवाज़ भी कैसी मोहक बना ली है। विचारा अशोक ने।

उस छत पर ज़ोर-ज़ोर के जूतों की आवाज़ से मेघरानी ने मुँह उठाया। अशोक की उस ज्वलन्त दृष्टि को देखकर अवहेलना से उसने मुँह फेर लिया। वैसे ही खट-पट करता हुआ अशोक नीचे उतर गया।

‘गँवार है गँवार, कमीना’ मन में गुनगुनाती मेघरानी नीचे उतरी।

जब अशोक लौटा, तब साँभ के प्रदीप जल चुके थे, प्रदीप-ज्योति में गुलाब की गुलाली भरी थी। कार द्वार पर रुकी। सिगरेट का डिब्बा हाथ में लेकर वह उतरा। और तब पड़ेस के उसी घर से उस मधुर गीत में भरी सरस-रस हलकी बोली अशोक के कानों में भर उठी। सो भी मधुरतर होकर। जी उसका उस ओर जैसे लौट-सा पड़ा, उसी आलोक-उज्ज्वल वातायन पथ से कमरे में।

मुक्त वातायन से मुट्ठी-मुट्ठी भर विद्युत्-प्रकाश निकलकर छत के कुछ अंश में लोट रहा था। कमरे में बेला के साथ तबला के ठेके पर नारी-कण्ठ का गान गुञ्जरित हो रहा था, जी उसका मुड़ा और कुछ क्षण उसी ओर भटका सा रह गया।

इस हलकी रात में यह हलकी खुशी सा गान, वही गाती होगी ! अशोक ने सोचा—हाँ, वही, वही। उसके और एक प्रौढ़ स्त्री के सिवा है ही कोन उस घर में ! दो-चार दिन बीते होंगे उन लोगों को उस घर में आये, कुछ दास-दासी, एक प्रौढ़ व्यक्ति, बस, हैं तो इतने ही उस परिवार में। कभी कुछ लड़कियाँ आ जाती हैं। शायद उसकी सह-पाठिनें हों। और वह ! हाँ, वही गाती होगी। गान ! किन्तु आवाज़ अच्छी मीठी है। वही तो गा रही है, वही, वही। सहसा घृणा, क्रोध से अशोक भर सा उठा—कहाँ की मिठास ! जैसी असभ्य, निर्लज्ज, घमण्डिन वह है, वैसा ही उसका गान भी। चाल-चलन, उठना-बोलना सब घमण्ड से भरा, कुत्सित। मेरे मुँह पर आईने की रोशनी फेंक फेंककर मेरा मज़ाक उड़ाया करती है, नीच लड़की, और मैं भी बस यहाँ खड़ा हो गया। बेफ़ायदा बड़बड़ाता हुआ अशोक ऊपर पहुँचा। और फिर ज़ोर-ज़ोर से छत की ओर की खिड़कियाँ बन्द करके कपड़े बदलने लगा। इस छोकरी ने मेरा छत पर बैठना मुश्किल कर दिया है, अब रात की नींद भी छीनने के विचार में है, लगी है चील की तरह चीखने। न जाने ये लोग कहाँ से आकर मेरे घर के पास बस गये। बाप रे, मैं तो हैरान हो गया हूँ।

प्रातः की रसभरी घड़ी में पलँग पर पड़ा-पड़ा अशोक विचार रहा था। पार्टी के समारोह के बारे में, मित्र-बान्धवों को वह निमन्त्रित कर चुका था, उस दिन चार बजे उसके घर पार्टी थी। विचार रहा था अशोक—सैंडविच, पेटी, कैक यह तो रहेंगे ही और—

“बाय, चाय ले आओ।”

अशोक ने उस ओर देखा, छत के रेलिङ्ग से झुकी वह पुकार रही थी—“चाय ले आओ ।”

उस ओर से अशोक ने आँख फेर ली । किन्तु परम आश्चर्य तो यह है कि फिर भी आँखें न जाने क्यों उसी ओर बार-बार उठने लगीं ।

विरक्ति से वह उठ बैठा—अब मुझे ही घर छोड़ देना पड़ेगा । सबेरा हुआ नहीं कि वह चील की तरह चीखने लगी । सोना मुश्किल है । राम-राम । और बस, धूप फैली नहीं कि लगेगी वह आईना चमकाने । कैसी धूर्त लड़की है । पकड़ना मुश्किल है । सामने खड़ी रहती है और आईना चमकाती रहती है । लेकिन तारीफ़ तो यह है, कि वह आईना इस तरह से दबाये रहती है कि क्या मजाल जो कोई उसे पकड़ सके । जैसा रूप, वैसा गुण ।

रूप ? लेकिन देखने में शायद—कौन जाने, वही तो खड़ी है । क्या उसे भी खूबसूरत कहा जावे ? दुबली, पतली, हाड़ों का है ढाँचा । उसे कौन सुन्दरी कहेगा ? और फिर मैंने देखा भी यहाँ अच्छी तरह से उसे । छिः, देखे भी कौन, कुछ है भी देखने लायक उसमें ? वैसी हज़ारों लड़कियों को मैंने देखा । एक से एक खूबसूरत, जिनको मैंने पसन्द नहीं किया, फिर मेरे लायक होतीं भी तो कोई । और मैं झट से क्या सोचने को बैठ गया ? चलो, हटाओ ।

दोपहर को दो बज गये थे । अशोक अत्यन्त व्यस्त हो रहा था । नौकरों को डाँटता, फटकारता स्वयं दौड़-दौड़कर पार्टी की व्यवस्था कर रहा था—“यह टेबल यहाँ रखो, देखो, आइसक्रीम में थोड़ा गुलाब-जल मिला देना, एसेन्स आफ़ लेमन मत डालना । और फूल के गजरे आ गये ?”

“नहीं मिले ।” भृत्य ने कहा—भीत, मृदु स्वर से ।

“नहीं कैसे मिले ? अभी कल वह माली मेरे सामने कह गया था चालीस गजरे और तोड़े लावेगा । और तुम कहते हो नहीं मिले ?”

“जी, वह कह रहा था कि गजरे, तोड़े लेकर वह ज़रूर आ रहा था यहीं के लिए, परन्तु—” भृत्य चुप हो रहा।

“परन्तु—परन्तु क्या ? कहो न साफ़ !”

“वह जो सामने मकान है, जहाँ गाना-बजाना होता रहता है—”

“कौनसा ? वह छतवाला ?”

“जी हाँ।”

“तो ?”

“उसी मकान के दरवाज़े से वह निकला, तब एक बाई ने उसे बुला लिया, उनके घर भी कोई जलसा है—”

“तो मैं जलसा को पूछ रहा हूँ या गजरो को ?”

“वही तो कह रहा हूँ मालिक। बाई ने उन्हें खरीदना चाहा, माली ने कह दिया यह सब आपके लिए है। तब बाई उस पर भल्लाई और दूने दाम लगाकर सब का सब रखवा लिया।”

क्रोध से अशोक पागल हो उठा—वह लड़की खड़ी है केवल उससे प्रतिद्वन्द्विता करने के लिए ? जान-बूझकर उसे नीचा गिराने के लिए। स्वयं हँसी उड़ाया करती है, और दुनिया से भी उसकी हँसी उड़वाना चाहती है। नहीं तो क्या ? अब बाज़ार से हार मँगवाने पड़ेंगे, इतने गजरे मिलेंगे कहाँ ?

उस दिन अशोक बाहर निकला था कि सन्तरे का छिलका उस पर आकर गिरा। भल्लाकर अशोक ने ऊपर देखा, खिड़की पर बैठी वह पुस्तक पर झुकी सन्तरे खा रही थी।

और जब तक कि अशोक सँभले, दूसरा छिलका उसके ऊपर आ गिरा।

“अच्छी दिल्लगी है।” वह कह उठा और तब जैसे पाठरता तरुणी का ध्यान भङ्ग हो गया। उसने नीचे भाँककर देखा, वास्तविकता कुछ जान न सकी, पाया केवल अशोक को अपनी ओर घूरते।

“असभ्य।” मुँह से उसके निकल गया।

सन्धि-वेला में

(१)

शब्द वहाँ मूर्च्छित था, दृष्टि प्रतीक्षा-व्याकुल, हृदय आग्रह-उद्वेलित । चित्र-जगत् की नूतन आगन्तुका, सुन्दरी-श्रेष्ठा मिस माया की प्रतीक्षा में मायाकल्प के बृहत् हाल में प्रतिपल की गणना हो रही थी ।

कदाचित् किसी देश के स्वाधीनता-रक्षा-संग्राम के सन्धिस्थल में भी हृदय की वैसी एकता, समानता न रही होगी; जैसी कि उस दिन माया-कल्प हाल के सिनेमा-प्रेमियों के हृदय में थी । वही एक-सी प्रतीक्षा, एक-सी आशा, एक-सा आग्रह । कितने दिन, कितने दिन तो हो गये—उस रूपरानी की आकुल प्रतीक्षा में । रङ्गालय के आन्तरिक पुजारी पत्रों पर आँखें गड़ाये रहते, विशापन के चित्रों पर समय बिताते और मास, पक्ष, दिन, घण्टे, मिनट गिनते । वह दिन उपस्थित था, वैसी दीर्घ प्रतीक्षा सफल थी—प्रत्येक चल-चित्र-उपासक की । कितने लौट गये—स्थानाभाव से ।

पिता पुत्र के साथ बैठा था और अर्धचन्द्र छात्र के । समय, काल, पात्र का विचार वहाँ भटका था, भूला-सा । फिल्म का नाम भी तो भला-सा था—‘युवती का प्रेम’, नहीं-नहीं—‘प्यार’ । कितने ही चित्र-कीट नाम ही पर मर मिटते । बालिका नहीं, तरुणी नहीं, रमणी नहीं, पत्नी, प्रिया नहीं, वृद्धा तो है ही नहीं, ‘युवती का प्यार’ ।

बी० ए० का छात्र दिलीप रोमाञ्चित हो जाता, यौवन में मतवाली एक युवती, जिसके सारे अङ्गों पर रूप न समाता होगा, एक उसी की तरह युवक को प्यार करती होगी, उसकी चन्दन-शाखाओं-सी बाँहें किसी एक के गले में शिथिल पड़ी रहती होंगी । नरम उँगलियों में मानिक अँगूठी चमकती होगी, नाखूनों पर कुमकुम की लालिमा लिपटी होगी, काँच की ढीली काली चूड़ियों से कभी-कभी झङ्कार उठती होगी, चाँदनी में भूली-कोकिला के से स्वर में वसन्त-पवन भटकता होगा ।

दिलीप बार-बार सिहरता, कदाचित् कभी वही उसके प्यार का युवक बन बैठे ?

वृद्ध ! नहीं वह वृद्ध कैसे होगा ! यदि वह एक अनुपम यौवन की रानी है, तो वह भी एक युवक ही है । भला युवती भी कभी वृद्ध को प्यार कर सकती है ?

प्यार, प्यार—युवती का प्यार । वह प्रोफेसर के लेक्चर को भूल बैठता, सामने की खुली किताब में उस प्यारवाली युवती का सुगठित यौवन जीवन्त हो जाता, कल्पना-राज्य में प्रलय आ जाता ।

सन्ध्या समय कालेज के विद्यार्थी एकत्र होते चल-चित्र अप्सराओं की समालोचना उठ पड़ती, घण्टे बीत जाते, कभी उसी समालोचना में, कभी किसी सिनेमा-हाल में । आँखें अतृप्त रह जातीं, फिर दूसरे और तीसरे दिन की प्रतीक्षा में रहते । सिनेमा-जगत् से उनका परिचय बढ़ता जाता, वहाँ की वायु उनके श्वास-प्रश्वास में रम-सी जाती ।

अन्त में जीवन की प्रथम अभिसार-रात्रि की अभिसारिका-सी तरुणी स्टेज पर आ ही गई—भीरु-सी, लजीली-सी, विह्वल-सी । मुग्ध-पुलकित दर्शक उसके अभिनय की प्रशंसा से शतमुख हुए ।

“अपूर्व सुन्दरी ।” महेन्द्र ने धीरे से कहा ।

“नहीं भाई, इसे हम रूप की रानी कह सकते हैं और प्रकृति का श्रेष्ठ निचोड़ ।” दिलीप बोला ।

“यह रहती कहाँ है ?”

“पता लगाता हूँ किन्तु लगता नहीं ।”

“ढूँढ़ निकालो । उनके दर्शन तो हुआ करें ।”

“ज़रा धीरे । कहीं कोई सुन न ले ।”

किन्तु यह सतर्कता व्यर्थ थी ! उनकी विचार-धारा बहुतेरे दर्शकों के हृदय को संक्रामक व्याधि की तरह निगल चुकी थी । अर्द्ध रात्रि के समय दिलीप घर लौटा । बड़े आईने के सामने खड़ा हो गया । स्वस्थ, सुन्दर चेहरे को तन्मय होकर देखने लगा । नहीं, गालों पर सिकुड़न,

दृष्टि में थकावट कहीं कुछ भी नहीं है। अपनी ही आकृति उसकी दृष्टि में उस दिन एक इन्द्रजाल बनने लगी। इसके पहले उसने अपने को उस तरह देखा न था। वह देखने लगा, जाँचने लगा—एक समा-लोचक-सा। युवक था। वह स्वस्थ युवक 'युवती का प्यार' तन्द्रालस की भाँति अलस कंठ से कहने लगा—“युवती का प्यार।”

(२)

सुन्दर अट्टालिका। विलासिता, सुख-चैन की प्रत्येक वस्तु मनोयोग के साथ स्वाभाविक रूप में रखी गई थी। दीवारों पर के बृहत् दर्पण उस कमरे की विशेषता की ओर दृष्टि आकर्षण कर रहे थे। पलंग की कोमल शय्या पर पड़ी माया अलसाई दृष्टि से प्रतिबिम्ब को देख-देख-कर गर्व, आनन्द से मचल रही थी। कल्पना का स्वप्न सफल हो गया था। कभी एक दिन वह सिनेमा के चित्रों को देखकर लालायित होती—उसी माया-लोक में थोड़ी-सी जगह पाने के लिए। हृदय-मन से उन अभिनेत्रियों की पूजा करती। भक्त की भाँति उनके चित्र देखती, प्रत्येक शब्द को आकण्ठ पी बैठती। निरा सपना था और कोरी कल्पना। कहाँ वह और कहाँ मैं ? वह कभी सोचती—इतने दर्शकों पर जो विजय पाती है, वह सम्राज्ञी नहीं तो क्या है ? धनी, निर्धन, राजा-महाराजा जिसके पुजारी बन जाते हैं, वह देवी नहीं तो क्या है ? भला मुझमें इतनी शक्ति कहाँ ?

किन्तु देखते ही देखते एक दिन वह आ ही गया। उस दिन वह अपनी सत्ता तक खो बैठी। जीवन में विस्मय आता है अवश्य, किन्तु ऐसा अनोखा विस्मय ! वह क्या से क्या हो गई। दैत्य की माया की छड़ी छूने ही पाई थी कि महल का महल खड़ा हो गया, हीरे-मोती के साथ। साथ ही साथ रूप-मुग्ध, प्रशंसा-मुखर विराट् जनता।

ऐसी विचित्र खुशी को वह अपनी छाती में कैसे छिपाये ? विजयिनी है तो क्या हुआ, है तो वही कोमलहृदय नारी—हाँ—नर की

नारी । वह खिलखिलाकर हँस पड़ी । कैसा सुन्दर कमल-सा खिला जीवन है, न बाधा है न विघ्न, नियम-निषेध का कठघरा नहीं । स्वाधीन, स्वच्छ, पूर्ण जीवन की वह अधिकारिणी है । अपनी सत्ता को भरपूर अनुभव करने का यह कैसा सुन्दर साधन है ।

अचानक उसकी आँखें लज्जा से सिकुड़-सी गईं, अपने साथी अभिनेता मनीन्द्र की याद से—एक मीठी सिहरन, विपुल पुलक ने उसकी नसों को आच्छन्न-सा कर दिया । “युवती के प्यार” का वह नायक था और माया थी प्यारवाली वही युवती । कदाचित् उसके अन्तर की युवती नारी मचल उठी हो—पल भर के लिए, कदाचित् न उठी हो । पूर्ण दृष्टि की व्याकुल भाषा मूर्त हो उठी और एक किशोरी के विह्वल नेत्र नव-वधू के अवगुण्ठन से ढक-से गये । उस दर्पण की ओर से माया ने आँखें फेर लीं—धीरे, बहुत धीरे, एक भीरु बालिका की तरह ।

“माया उठ बेटी । बाबू लोग मुलाकात के लिए आये हैं ।”—
प्रौढ़ा-स्त्री उसे पुकारने लगी । प्रौढ़त्व को पाउडर और रङ्ग, कपड़े-
गहनों के नीचे छिपाने के लिए यथेष्ट सतर्कता की गई थी ।

“किससे ?”

“तुझसे और किससे । अभी तो श्रीगणेश ही है, कितने ही राजा-
रईस तेरे पैरों तले लोटा करेंगे ।”

पुलक-व्याकुल माया उठ पड़ी ।

“तुम जाकर नहा लो, तब तक मैं उनसे बातें करूँगी । उन्हें यहीं बुला लाती हूँ । नीली जार्जेंट की साड़ी पहन लेना ।”

माया लौटी—कोई पन्द्रह मिनट में । उसे जान पड़ता था, देर लग गई । वह उन सौभाग्यशाली क्षणों के लिए अधीर हो रही थी । उन्हें नष्ट करते उसका अन्तर व्यथा से रो पड़ता था, उन मिनटों को वह अपनी साड़ी के आँचल में बाँध लेना चाहती थी । जीवन में अवसर

कहीं बार-बार आया है ? वह जल्दी से चली आई, न जाने वे आने-वाले कैसे होंगे ।

दिलीप और महेन्द्र ने नमस्कार किया । उसका नारीत्व चरितार्थ हो गया । सम्मान के उच्च सिंहासन पर बैठी है वह । प्रति-नमस्कार करना भूल गई ।

प्रौढ़ा ने कहा—“नमस्कार करो बेटी । क्या करें बाबूजी, चौबीस घण्टे लोग उसे घेरे रहते हैं । थक जाती है, मुटी भर तो है ही । उस पर सिनेमा में एक्टिङ्ग को जाना, गाना सीखना । इधर मारे भीड़ के फुरसत नहीं । दिमाग़ कहाँ तक ठीक रह सकता है । चाय पी ली माया ?”

“नहीं ।”

“नौकर भी कैसे पाजी हैं । अच्छा, तुम बैठो, यहीं भेजे देती हूँ, बाबू साहबों के लिए भी ।”

“बधाई देने आया हूँ, कितना अच्छा अभिनय करती हैं ।”—महेन्द्र ने कहा ।

वह लजा गई ।

“फिर भी कहना पड़ता है, चित्र में आपका सौन्दर्य सम्पूर्ण नहीं उठ पाया ।” दिलीप बोला ।

“आप बढ़ाते हैं ।”

दिलीप कृतार्थ हो गया—“बिलकुल नहीं । चाहे जिससे पूछिए, आप सिनेमा-जगत् की ध्रुव तारा हैं । मिस जयन्ती और सुरमा देवी आपके पैर तले बैठने योग्य भी नहीं । न जाने लोग उन पर क्यों न्यौछावर हैं । कैसी भद्दी सूरतें हैं ।”

किन्तु न जाने क्यों आनन्दित होते हुए भी वह किसी अनजान व्यथा से सिकुड़-सी गई, उसे एक धक्का लगा—लोकमत का क्या यही मूल्य है ? दो दिन पहले जिन्हें सातवें स्वर्ग में चढ़ाये था, आज एक शब्द में उन्हें, बिना विचारे, पथ की धूल में फेंक देने में वह दुविधा मात्र नहीं करता । और इसी लोकमत के लिए संसार आतुर है, यह कैसी

पहेली है ! किन्तु वह कुछ कह न सकी । इस न कह सकने से माया अपने ऊपर असन्तुष्ट, विरक्त होने लगी, फिर भी चुप रही । केवल इतना ही नहीं, वरन् उस प्रशंसा को मतवाली-सी आकण्ठ पीने लगी और उसी प्रशंसा की स्तुति सुनने के लिए आकुल होने लगी ।

(३)

उन दिनों 'माया आकाश में परियों के झुण्ड में विचरा करती । विजिटर्स के मारे उसे पल भर भी समय नहीं मिलता—न घर न बाहर ।

मायाकल्प का दूसरा फ़िल्म तैयार हो रहा था । इस बार भी वही थी नायिका । शूटिंग के समय मारे बाहरी भीड़ के वहाँ की वायु तक भारी हो जाती । केवल पल भर, एक दृष्टि उसे देखने के लिए लोग बावले से एक दूसरे के ऊपर गिर पड़ते । उपरान्त सिनेमा कम्पनियों के अधिकारियों के मारे उसे चैन न मिलता । भोग-विलास के स्तूप पर बैठी रानी-सी कभी मुस्करा पड़ती; कितने ही उस पर, उसकी मुस्कान पर जीवन का उपाजन न्योछावर कर देते । वह कभी उस ओर देखती, कभी न देखती । यह तो उसे पाना ही था—फिर इसमें आश्चर्य कहाँ ! कभी कहती—“दादी, क्या मैं कल-पुर्जों की बनी हूँ ? मुझे पाँच मिनट विश्राम का समय भी नहीं मिलेगा !”

“विश्राम के दिन तो पड़े हैं बेटी, जीवन भर सुस्ता लेना; अभी इन दिनों का स्वागत करो ।” वह प्रौढ़ा स्त्री उत्तर देती ।

यह कैसी बात है ! उसे सन्देह-सा होता, पूछ बैठती—“तुम क्या कहती हो !”

“कहती थी—अभी जितना चाहे, धन-दौलत इकट्ठा कर ले, फिर बुढ़ापे में कोई पूछेगा नहीं ।”

माया सिहर उठती—क्या यह सत्य है ! ये स्तुतिकार क्या ऐसे हैं ! नहीं, दादी को समझ नहीं । वह विचार करती मेरा रूप-यौवन तो मेरी निजी सम्पत्ति है, यह जा ही कहाँ सकता है !

आईने के सामने माया खड़ी हो जाती, सोचती—इस रूप, यौवन की कहीं सीमा है, कहीं तुलना भी है ? मुग्ध भक्तों में ईर्ष्या-भाव को देखकर वह मुँह फेरकर हँसती । विशेषतः मनीन्द्र और दिलीप में उसे लेकर सदा कुछ न कुछ हो पड़ता, गर्व से माया हँस देती । जीवन के विचित्र वर्षों को वह रङ्ग-कौतुक से गँवाती ।

फाल्गुन सन्ध्या-सी तरुणी गीता देवी के साथ मनीन्द्र जिस दिन स्टेज पर उतरा, उस दिन उपेक्षा करने की चेष्टा करते हुए भी माया के नेत्र से बूँदे टपक पड़ीं । कौन जाने व्यथा की या ईर्ष्या की अथवा और किसी गोपन कहानी की ।

उसके घर की उसी प्रौढ़ा-स्त्री ने पुकारा—“माया, राजा बहादुर बैठे हैं । वह हँसकर उठ पड़ी ।

उस दिन सन्ध्या वेला माया उदास खड़ी खिड़की से प्रतिवासी के घर भाँक रही थी ।

हाँ, तो उत्सव की बाँसुरी प्रलय नीरव हो चुकी थी । यद्यपि उसकी गत, गमक, मीड़, मूर्छना की झुंझार माया के घर विरागहीन थीं ।

माया अकेली थी, जैसे कि अब वह रहा करती थी । जिस अकेलेपन, जिस विश्राम के लिए कुछ ही दिन पहले वह अनुयोग किया करती थी, वही सूनापन उसके द्वार पर खड़ा था; किन्तु वह उस सूनेपन की ओर देख भी न सकती थी, फिर सहती कैसे ! किन्तु फिर भी वह सब कुछ उसी को सहना पड़ता था—संसार-दृष्टि को छिपा कर । अब लुक-छिपकर रहना, भाँकना ही अवशेष था ।

वह उस घर में भाँक रही थी । प्रतिवासी वधू दालान में बैठी रोटी बना रही थी; नग्न, अर्धनग्न बालक उसे घेरकर लूधा की दुहाई दे रहे थे और एक वृद्धा नारी पार्वती-सी उज्ज्वल सेंदुर से माँग भरे रोटी बेल रही थी । माया मन्त्रमुग्ध की नाईं वहीं खड़ी रही । न जाने कब तक । उस गृहस्थ-परिवार में उसने कौन जाने कौन-सा रस, कौन-सा सौन्दर्य पाया, कौन से नूतनत्व या पुरातन को देखा, वह वहाँ से हट न

सकी। उस परिवार से वह उस दिन प्रथम बार परिचित हो रही थी। न जाने कब से वे उसके प्रतिवासी रहे हों, कब से वह श्यामाङ्ग वधू इसी तरह रोटी बनाया करती हो, बालक-बालिका 'माँ, माँ', कहकर इसी तरह उसके कण्ठ से लिपटते हों और उसका पति ! वह सिहर उठी, कभी एक दिन उसके भी तो—सहसा व्यथातुर चीत्कार उसके मुँह से निकला, वह हट आई। न जाने उस परिवार में उसने कौन-सी चीज़ देखी, कौन-सी विचित्रता पाई। कैसे उसने वर्तमान, भविष्य या अतीत को देखा, जिससे कि उसकी अन्तर की विलासिनी रो पड़ी। माया को शान्त होने में देर लगी। जब बैठक में आई, तब भी वह हाँफ रही थी।

(४)

मनीन्द्र को हँसी आई राजा के यह कहने पर कि माया श्रेष्ठ अभिनेत्री है।

शहर में नूतन आगन्तुक थे राजा, और माया के नये भक्त भी। स्त्रियों-सी सुकुमार आकृति, बीस-बाईस वर्ष का श्रीमान् युवक अतुल-धन सम्पत्ति का अधिकारी।

“आप अभी लड़के हैं, इस कला को क्या समझें ? क्या गीतादेवी को देखा नहीं ?”

“नहीं। किन्तु अपने देश में रहते समय मैं मिस माया का नाम सुनता आ रहा हूँ और अब उन्हें देखा, उनका अभिनय भी। आप कहते हैं—”

“अरे भाई, उनका समय अब निकल चुका है। हाँ, पहले के फ़िल्म उनके अच्छे हैं; परन्तु अब बिलकुल नहीं। जैसी वे मोटी हो गई हैं, वैसा ही एक्टिंग भद्दा हो रहा है, उमर भी तो कम नहीं।”

“अवस्था तो दिन पर दिन हमारी भी बढ़ती ही जायगी, इसके लिए वे क्या कर सकती हैं ? किन्तु उमर के लिए किसी के गुण का निरादर

होना, माफ़ करिए महाशय, मैं तो फिर भी कहूँगा, यह घोर अन्याय है। गुण अविनाशी है।”

मनीन्द्र ज़ोर से हँसा—“नये गुण के आगे पुरातन का वैसा आदर कब, कहाँ और किस देश में हुआ है !”

“आप मुझे अवाक् करते हैं, प्रत्येक देश में गुण का आदर होता चला आ रहा है। यूरोप से लेकर.....।”

“ठहरिए, ठहरिए, वह उनकी मृत्यु के बाद। उन गुणवान् स्त्री और पुरुषों के प्रथम जीवन में जनता के स्तुतिवाद को छोड़कर बुढ़ापे की ओर दृष्टि डालिए, सब जगह आप नूतन के आदर को पायेंगे। यह संसार का नियम है। आप जानते नहीं, कई साल पहले अभिनेत्री जयन्ती और सुरमा देवी पर हम मर मिटते थे।”

राजा चुप रहा।

वह एक ही पल था, जिस समय माया की चर्चा बाहर कहीं हो रही थी। माया भी उस चर्चा से ख़ाली न थी। अन्तर केवल इतना था कि उसकी चर्चा थी अपने हृदय से। स्नान करते समय बाथरूम के आईने पर उसकी दृष्टि पड़ गई। अचानक उसे जान पड़ा—यह वह माया नहीं है। गम्भीर लजा से उसने मुँह फेर लिया। उन इने-गिने वर्षों में उसका ऐसा भयानक परिवर्तन कैसे हो गया ? दुनिया को लूटने बैठकर वह कब अपने आप लुट गई ? एक गहरी, व्यथातुर श्वास उसके हृदय के पदों को चीरती हुई सामने के उस प्रतिबिम्ब में समा-सी गई। नहीं-नहीं, वह इस स्थूलाङ्गी प्रौढ़ा को नहीं देख सकती। माया ने आँखें बन्द कर लीं। एक नागिन-सी पतली, तरुलता-सी लचकती अनुपम युवती आकर सामने खड़ी हो गई, शराब के प्याले-सी आँखों में न जाने वह किस देश की वार्ता भरे हुए मुस्कराने लगी।

माया के मुँह की हँसी लौट आई—हाँ, इसी से तो वह आमरण परिचिता है। इसकी प्रत्येक भावभङ्गी को वह पहचानती है। यही तो है, इसी को वह पुकार रही थी, हँसकर उसने आँखें खोलीं; किन्तु फिर

भी वही प्रतिबिम्ब ! वह चिल्ला पड़ी । नहीं—नहीं, तुम भागना नहीं, तुम्हारे बिना मैं कैसे जीऊँगी ? यह मोटी प्रौढ़ा राजसी कहाँ से आई ! इसी ने मेरा सर्वस्व चुराया है ।

माया ने हाथ का लोटा फेका, दर्पण के कई टुकड़े हो गये ।

माया चुपचाप पड़ गई ।

“भोजन कर लो ।”

“भूख नहीं है ।”—उसने आँखें बन्द कर लीं । वह सिसक-सिसककर रने लगी । कहाँ गई वह इन्द्र की अप्सरा ? रातों-रात उसे कौन ले भागा ? कैसा निर्मोही था वह । उसके अन्तर की प्रिया-प्रेयसी तो अब भी वैसी ही सर्वाङ्गसुन्दरी रूप में ऊँचे सिंहासन पर बैठी हुई है । फिर बाहर यह लूट कैसे हो गई ?

“युवती का प्यार” फिर से चल रहा था—वर्षों पीछे ।

चादर में अपने को छिपाये माया हाल में बैठी थी । एक बार, केवल एक बार वह उस विजयिनी को देखने आई थी । कदाचित् उसी से उसको सान्त्वना, सन्तोष, गर्व, तृप्ति हो । चलचित्र ने अपना कार्य आरम्भ कर दिया । वह चातक की तरह उस रूपवती को निहारने लगी—पूर्ण दृष्टि से । देखते-देखते वह समय, काल, पात्र को भूल बैठी । रह गया केवल वर्तमान—उसकी दृष्टि में वास्तविक होकर ।

चादर कब ज़मीन में लोट गई थी, उसे पता तक न चला ।

“क्या माया देवी आप ही हैं ?”

माया ने आँखें उठाई, गीता के चञ्चल नयनों के परिहास, व्यङ्ग्य को उसने कदाचित् ही देखा हो ।

वह अधीर गति से चल पड़ी ।

(५)

बनाय-शृङ्गार शेष कर माया खिड़की पर खड़ी हुई । ऐसे ही अब वह प्रायः खड़ी हुआ करती थी । दिन भर के काम-काज, आनन्द-उत्सव

के भीतर भी खिड़की के नीचे की वह अनाडम्बर गृहस्थी उसे अपनी ओर खींचा करती। कारण-अकारण वह वहाँ आकर खड़ी हो जाती। बच्चों, बूढ़ों के कलहास्य को वह कान लगाकर सुनती। उस परिवार के प्रत्येक कार्य को विस्मय-पुलक से देखती। बच्चों की माँ, नानी आदि पुकार के वह अनमनी हो जाती।

“तू यहाँ खड़ी है और राजा कब से बैठे हैं।”

“वे आ गये ?”—छोटी बालिका-सी खुशी से मचलती वह राजा के सामने खड़ी हो गई।

“देर क्यों लगाई ?” राजा के बगल में बैठकर वह एक हठी बालिका-सी बोल उठी।

“कहाँ देर ! घण्टे भर पहले आया हूँ। आपके दर्शन के लिए घण्टे-मिनट गिना करता हूँ, घड़ी देख लो।”

माया ने आँखें उठाईं; किन्तु घड़ी पर न पड़कर उसकी दृष्टि पड़ गई ठीक सामने—उसी बृहत् दर्पण में जहाँ एक प्रौढ़ा-स्त्री अपने प्रौढ़त्व को यथासाध्य रङ्ग, पाउडर और हाव-भाव, गहनों के नीचे दबाकर अर्द्धनग्न बैठी थी, और एक युवक, जो कदाचित् उस स्त्री की सन्तान की आयु के समान हो—पिपासित दृष्टि से उसी स्त्री को देख रहा था।

पल भर में माया ने देखा—माता की आयु उस लीला-चञ्चल प्रत्येक भाव प्रकाश पर तथा, उच्छ्वलता को घृणा से व्यङ्ग्य कर रही है और युवक की मुग्ध दृष्टि उसके नारीत्व को। माया ने मुँह फेर लिया; किन्तु चारों ओर के आईने पर वही एक-सा कौतुक था ! इस बार माया ने दोनों हाथ से मुँह ढाँक लिया। किन्तु वहाँ भी वह चित्र वैसा ही परिस्फुट था—उस बन्द दृष्टि के भीतर भी।

“मैं कहाँ जाऊँ, दर्पण की कोठरी से मैं कहाँ जाऊँ ?”—माया चिल्ला पड़ी।

विस्मय से राजा उसका मुँह निहारने लगा—“माया देवी।”

“यहाँ भी वही दर्पण, तो जाऊँ कहाँ ?”

माया का सब कुछ खोया-सा स्वर युवक के हृदय में भटकने लगा—
“मैं कहाँ जाऊँ, जाऊँ कहाँ !”

—

सूखी रोटी

(१)

स्त्री-भाग्य से धन और पिता-भाग्य से सन्तान—इस कथन की वास्तविकता अमरनाथ के भाग्य में आई ही नहीं। तो वह इस बात को जानता और मानता कैसे ?

पचपन में उसके पिता-माता एक छोटा-सा मकान और हजार रुपये नक़द देकर परलोक सिंघार गये थे। मेट्रिक तक वह पढ़ पाया कि यह विपत्ति। तब वह पूर्ण शक्ति, पूर्ण मनोयोग से अर्थ-उपार्जन में लग गया। वह मानता अपने को और मानता अपने भाग्य को। बीस वर्ष की अवस्था में उसने ऐसा धन बटोरा, जिसे देखकर संसार को चकित रह जाना पड़ा। सूद पर रुपये लगा दिये। अपने-सा एक मोटा-ताज़ा मुनीम रख लिया। बस। इसके बाद से सूद के सूद से उसकी तिजोरी भरने लगी। रुपये के बदले में कभी कोई भारी मकान, ज़ेवर, कभी गायें, गाँव उसके हाथ में आने लग गये।

अब अमरनाथ शहर का एक धनी-मानी कहलाता है। इतने पर भी रोज़ का खर्च, रहन-सहन में उसने तिल बराबर भी परिवर्तन आने न दिया।

वह अपने उसी छोटे-से मकान में रहता। मोटी धोती, लट्टे का कुरता पहनता। रोटी से लेकर घर के सब धन्धे मुनीम हरजीवन किया करता।

बैठक में एक पुराना तख़्त, मैले तकिये, फटी-सी दरी। वैसी ही अलमारी में कागज़-पत्र। तिजोरी ? वह तो सोने के कमरे में रहती

थी न। हाँ, बैठक में दो-चार लकड़ी की कुरसियाँ अवश्य थीं। घर के लिए सौदा मुनीम नित्य दो-चार पैसे का लाया करता। प्रभु, भृत्य दोनों का भोजन बँधा हुआ था। उसमें न कभी एक पैसा कम होता, न अधिक। विवाह उसने एक नहीं दो किये, किन्तु वे अभागिनी जी न सकीं।

फिर कैसे तय हो कि स्त्री-भाग्य में धन रहता है या नहीं? और सन्तान? किन्तु जब स्त्री ही न रही तो सन्तान कहाँ से आवें?

उस दिन अमरनाथ बैठा-बैठा यही बातें सोच रहा था कि मोतीराम पहुँच गया। वही मोतीराम—शहर के ब्याह-शादी जिसके बिना नहीं होते।

“बहुत दिन पर आये मोती, इधर मैं तुम्हारी याद करता रहता हूँ।”

मोतीराम आराम से बैठ गया, फिर पाकेट से दो बीड़ियाँ निकालीं। एक अमरनाथ को दी दूसरी स्वयं सुलगा ली।

वह कहने लगा—“मुंशीजी, बढ़िया लड़की है। इन्कार मत करो। ऐसी लड़की फिर न मिलेगी।” “मैं तो अब ऐसे भक्तों में पड़ना नहीं चाहता भाई, फिर तुम्हारा जब आग्रह है, तो कर ही लूँगा। परन्तु मोती, फिर भी वही खर्च। कहाँ से इतना आवे? हाँ, अगर वह नक़द कुछ दें, तो देखा जायगा।” आखें कपाल पर चढ़ाकर मोती कहने लगा—“दान-दहेज कैसा? खूबसूरत, कालेज में पढ़ी, घर-गृहस्थी, सीने-पिरोने में होशियार। भला इस लड़की के लिए नक़द भाँ कोई दे सकता है? हज़ारों वर तैयार हैं। वह तो मैंने उसकी माँ को उल्टा-सीधा समझाकर राज़ी कर लिया। बाप नहीं है, लड़की और माँ है। माँ कहती थी—“उनकी दो-दो औरतें मर चुकीं। ऐसे बूढ़े से लड़की न ब्याहूँगी।” मैंने कहा—“लड़की दौलत पर बैठी हुकूमत चलावेगी, रानी जैसी रहेगी, मुंशीजी सा धनवान् शहर में है ही कौन? तब कहीं वह राज़ी हुई।”

“कालेज में पढ़ी है? कहाँ तक पढ़ी है?”—आग्रह से अमरनाथ ने पूछा।

“एक० ए० तक । कहिए तो इसी माह में शादी हो जावे ।”

अन्त में अमरनाथ को हाँ कहना ही पड़ गया । यद्यपि खर्च की चिन्ता उसे निगले जा रही थी, फिर भी ऐसा प्रलोभन ! कहाँ तक सहता ! आखिर वह न कोई दैत्य था, न देव । था तो एक मनुष्य ही न !

(२)

अन्त तक मुंशीजी के चार-पाँच सौ रुपये लग ही गये । बाजे का नाम लेते ही वह झुल्ला पड़ा । बिना बाजा बरात गई ।

शुभ दृष्टि के वक्त वधू मधुमालती ने वर को देखा । उस मुख में शायद परिवर्तन हुआ, शायद न हुआ । किन्तु अमरनाथ के नेत्र उस अप्सरी के मुँह में गड़-से गये । इतना तो सही ही है । ऐसी सुन्दर, लिखी-पढ़ी पत्नी उसकी—इस बात को विचारकर वह प्रसन्न हुआ । किन्तु दूसरे ही पल उसे याद हो आई खर्च की बात । बापरे, न सौ, न दो सौ । पाँच-पाँच सौ निकल गये और यह घर जायगी तो एक आदमी का खर्च और भी बढ़ जायगा । उसका हृदय धक-धक करने लगा । गया—गया, इतना ढेर-सा रुपया निकल गया और फिर भी छुटकारा नहीं । अभी और जाने कितना निकल जायगा ।

यह घर जायगी—अमरनाथ के मन में एकदम विचारों की भीड़ लग गई—तो आध सेर चावल और आध सेर आटे का खर्च बढ़ जायगा ! और फिर साड़ी-वाड़ी । मुंशी सिहर उठा । वधू मधुमालती के मुख पर उसकी दृष्टि फिर जा पड़ी । खुशी से भूमने लगा—मेरी औरत ऐसी परी-सी सुन्दर, लिखी-पढ़ी । पल-पल में हृदय पर एक पहाड़-सा दबने लगा—घर से पाँच सौ निकल गये, पैसे-पैसे कर जोड़े थे, सर्दी में बिना लिहाफ़ के जिन पैसों को इकट्ठा किया था, वेही पैसे निकल गये । मुन्शी की खुशी दबती जाती । मुख पर एक करुण-विषाद व्याप जाता ।

दूसरे दिन वर-वधू बिदा होकर घर आये। न एक बाँसुरी बजी, न एक फुलभङ्गी भरी; शहनाई भी नहीं। दस-पाँच मित्रों के साथ मुंशी कार पर बैठा और घर आया।

घर पर ! वहाँ भी वैसी ही अँधेरी रही। मङ्गल-घट लिये दो स्त्रियाँ द्वार पर खड़ी थीं। पड़ोस की चार-पाँच स्त्रियाँ बिना बुलाये चली आई—कुछ कौतुक से, कुछ आमोद से और कुछ आई शायद दया ही से। दिन ढलते-ढलते घर सूना हो रहा—नीरव।

देख-सुनकर मालती विस्मित हुई।

बूढ़े हरजीवन ने जब मोटे चावल का भात और अरहर की दाल परोसकर सङ्कोच के साथ उसे पुकारा, तब मालती केवल विस्मित ही नहीं हुई, एक अनजान भय से वह काँप उठी। वह कालेज पढ़ी थी, गरीब की लड़की थी, संसार की छोटी-बड़ी घटनाओं से उसकी पहचान हो चुकी थी।

मालती ने सङ्कोच न किया। आसन पर बैठकर पूछा—“क्या आप ही रोटी बनाते हैं ?”

“मैं ! नहीं, हाँ, मैं ही बनाता हूँ। फिर मैं न बनाऊँ तो कौन बनाये, दुलहिन ! दूसरे की बनाई रसोई मुंशीजी को पसन्द नहीं।”

“कल से मैं बनाऊँगी।”

“नहीं—नहीं। तुम अभी लड़की हो, अभी हँसो-खेलो। फिर तो घर की लक्ष्मी ही ठहरी तुम, तुम घर न सँभालोगी तो कौन सँभालेगा ? जल्दी क्या है ?”

“छोटी कहाँ हूँ, काका ! मैं आपको काका कहूँ ?”

इस स्नेह-सम्बोधन से हरजीवन विकल हो पड़ा। बोला—“जो चाहे सो कहो बिटिया। देखो तो सही, आज गड़बड़ में बजार तक न जा सका। साग-भाजी कुछ नहीं, तुमको दाल-भात देना पड़ा।” बृद्ध के छिपाने की चेष्टा को देखकर मालती मुसकराई, बोली—“किन्तु कल आप बजार से तरकारी ले आना काका, मैं केवल दाल-भात न बना

सकूँगी काका ।” खुशी से हरजीवन फूल उठा—“जो कुछ कहोगी ला दूँगा, डर किसका है ?”

(३)

दूसरे दिन सबेरे उठकर ही मालती ने गृहस्थी सँभाली । पड़ोसी स्त्रियाँ पहुँचीं और मालती को अमरनाथ की कंजूसी की खबर दे गई । सब कुछ उसने धैर्य के साथ सुना, ज़रा-सा मुसकरा दिया, बस ।

भोजन पर बैठकर मुंशी के नेत्र बाहर निकलने को हुए—बाप रे, यहाँ तो राजभोग का आयोजन कर रक्खा है ! कहाँ पानी-सी दाल और मोटे चावल का लाल-लाल भात, उसमें हज़ारों कीड़े, कंकड़, और कहाँ चार-पाँच तरकारियाँ, मिठाई, खड़ी, बारीक चावल का भात, सो भी साफ़-सुथरा, ऊपर से दही ।

ज़रा सा कपड़ा सिर पर खिसकाकर मालती आकर सामने बैठ गई, बोली—“आपने कुछ भी नहीं खाया और आप ही के लिए मैंने रसोई बनाई ।” कुछ शर्माकर, कुछ हँसकर, मालती इतना कह गई । अमरनाथ के एक ओर थी लज्जा-मिश्रित; इन्द्राणी-से अनुपम मुख की माया दूसरी ओर ताज़े रक्त-बिन्दु-से रूपों का मोह । उसका हृदय व्यथा से विकल हो पड़ा । किन्तु फिर भी नववधू की ओर से आँखें हट न सकीं ।

कर्कश स्वर को कोमल कर वह बोला—“रसोई क्या बनी है—अमृत जैसी स्वादिष्ट है, मालती । रूप और गुण ईश्वर ने तुममें कूट कूट-कर भर दिये हैं ।”

मालती ज़रा लजानी-सी, बोली—“किन्तु आपने तो कुछ भी नहीं खाया ।”

“खा तो रहा हूँ । सब साफ़ किये बिना उठने का नहीं ।” मुंशी ने जल्दी से कहा ।

“आप तो खड़ी पर हाथ रख रहे हैं और साग-भाजी वैसी ही पड़ी हैं । काका तो कह रहे थे आप खाने-पीने में बड़े शौकीन हैं ।”

इस प्रशंसा से मुंशी उछल-सा पड़ा—“कौन काका ! वे डिण्टी साहब कह रहे थे ? तो उनने भूठ थोड़े ही कहा है ।”

दोपहरी में माथा टेकें अमरनाथ अपने दफ्तर में बैठा था । हरजीवन को दबे-पाँव दालान से जाते देखकर उसकी आँखें लाल हो गईं ।

“हरजीवन, यहाँ आओ, भागते कहाँ हो ?” गरजकर अमरनाथ ने पुकारा । हरजीवन सामने आकर खड़ा हो गया । हँसी दबाकर बोला—
“भागता कहाँ था ? आपको आज का हिसाब लिखवाने आ रहा था ।”

“हिसाब अपना सिर लिखवाना । आज पाँच रुपये खर्च ज़रूर हो गये होंगे ।”

“पाँच ? नहीं जी, पचास ही तो हुए न ?” सिर हिलाकर उसने कहा ।

मुंशी के मुँह से एक चीत्कार निकली । इसके बाद उसके नेत्र पत्थर से अचल हो रहे ।

“हाँ, तो बहूजी ने कहा” — हरजीवन कहने लगा—“ऐसे धेले-पैसे का सौदा मँगाकर मुझसे गृहस्थी चलाते न बनेगी और मेरे काका सुनेंगे तो क्या कहेंगे ? महीना-पन्द्रह दिन के लिए सामान इकट्ठा लाओ । साग-भाजी नित मँगवा लूँगी । क्या करूँ, ले आया ।”

“बेवकूफ़, किसके हुक्म से लाये ?”

“जी, बहूजी के । न मानें तो आप पूछ लें ।”

“अरे बाबा चिल्लाते क्यों हो ? इस लिखी-पढ़ी से शादी करके अपने गले में मैंने छुरी फेर ली ।”

“घबराइए नहीं । उन्हें बुलाकर लाता हूँ । आप समझा दें ।”

“अरे भाई, ठहरो, ठहरो । क्या करते हो ? सब लोग मिलकर मुझे पागल मत बनाओ । बैठ जाओ और इस खर्च को रोकने की कुछ सलाह करो ।”

किन्तु हरजीवन को फिर भी वैसे ही खड़ा देखकर अमरनाथ भुँभुला पड़ा—“कान से भी कम सुनने लगे ? कह रहा हूँ बैठो ।”

“वही तो सोच रहा हूँ ।”

“सोच रहे हो ?” — गम्भीर-विस्मय से मुंशी ने पूछा ।

“जी, सोच ही तो रहा हूँ । क्योंकि शाम तक नौकर-चाकर तलाश कर लाना भी है ।”

“नौकर ? किसके नौकर ? कैसी पहेली बूझ रहे हो ?”

“घर के लिए जी, एक महाराजिन, एक महरी और एक नौकर ।”

“और एक हाथी, एक घोड़ा ।” मुँह बनाकर मुंशी ने कहा ।

“आप तो हँसी करते हैं ।”

“अरे बेवकूफ, इनको तनख्वाह कौन देगा ?”

“आप ।” अनायास उसने कहा ।

“अजी, कह क्यों नहीं देते—नौकर नहीं मिलते ।”

“उससे तो अपना ही नुकसान है ।”

“क्यों ?”

“बहूजी के सिर में दर्द है, सुनते ही उनके काका ने अपने घर के महाराज और नौकर को भेज दिया । उन्हें रुपये ज्यादा न देने पड़ेंगे ? ऊपर से खातिर करो ।”

मुंशी शव की तरह वर्णहीन, स्थिर हो रहा और हरजीवन हँसता, मुसकराता जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाता चल दिया ।

(४)

प्रौढ़ अमरनाथ की उच्च अट्टालिका के द्वार पर जिस दिन चमकती हुई मोटर भराने लगी, उस दिन स्प्रिङ्ग के गद्दे लगे कोच पर बैठे-बैठे मुंशी को चक्कर आ गया । उसे लगने लगा, पाँच हजार की मोटर उसकी पसलियों को तोड़-मरोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर रही है । मोटर को उदास दृष्टि से देखता वह बैठा रह गया । अपने दुःख की कथा फिर सुनावे भी किसे ? पत्नी बीमार थी; और उन्हीं के वायु-सेवन के लिए यह मोटर खरीदी गई थी । मालती के बीमार पड़ने से हज़ारों की हानि

हो गई। फिर भी वह अच्छी होने का नाम नहीं लेती। न है कोई उसकी दुःख-कहानी को सुनने-समझनेवाला। पुराना घर छोड़कर इस बड़े घर में आना पड़ा। हज़ारों का सामान खरीदना पड़ा, उस घर में मधुमालती का स्वास्थ्य बिगड़ता जाता था न।

किन्तु इस बड़े मकान में, इस नई ज़िन्दगी में, आकर मुंशी का वज़न बीस सेर घट गया, इसकी ख़बर तक दुनिया ने न ली। इसके लिए न ज़रा-भी सहानुभूति मिली, न कुछ। किसी ने पूछा तक तो नहीं कि दिन पर दिन तुम सूखते क्यों जा रहे हो ?

हीरे के नये ब्रेसलेट को चमकाती मधुमालती पहुँच गई—“चलोगे नहीं, जज साहब के घर पार्टी में ?”

“जी ख़ाब है मालती, तुम्हीं चली जाओ।”

“सब बहाना है। नई गाड़ी आई, एक दिन भी न बैठे। चलो, तुमको चलना पड़ेगा।”—मालती ने इठलाकर पति के कंधे पर हाथ धर दिया। और मुंशी उन नये ब्रेसलेटों के स्पर्श से एकदम कॉप उठा। दो हज़ार रुपये इन्हीं ब्रेसलेटों में समा गये। यदि वे दो हज़ार रहते, तो सूद में प्रति मास दस-बीस मिला करते। दो हज़ार रुपये जैसे आग की चिनगारी बने उसके शरीर में चुभने लगे।

मुंशी गिरते-गिरते बचा। मालती ने उसे संभाल लिया। मोटर पर पति-पत्नी बैठ गये। हँस-हँसकर मालती ने न जाने कितनी ही बातें कह डालीं। मोटर के गद्दे मुंशी को गड़ने-से लगे। मोटर दौड़ी जाती थी और मुंशी का खून सूखता जाता था। वह बिल्कुल ही आराम न पा सका, सुन्दरी, शिक्षित पत्नी, मोटर आदि सभी व्यर्थ गया। पाँच हज़ार रुपये उसके हृदय पर पत्थर-से दबकर बैठ गये, जिसके नीचे उसका श्वास दबने लग गया।

गाड़ी रुकी। पति के काले मुख को देखकर मालती चौंकी, सिहर उठी।

“बैठो, बैठ जाओ। घर चलो। तुम्हें क्या हो गया है ?” भीत स्वर से मालती पूछने लगी।

“मुझे ?”—रुक-रुककर मुंशी ने कहा “बड़ा दर्द है मालती ।”

“कहाँ ?” शङ्कित मुख से मालती ने पूछा ।

“छाती में ।”

“देखें ।”

“नहीं, नहीं, छुओ मत ।”

घबराई-सी मालती पति को लेकर घर लौट पड़ी । डाक्टरों से घर भर उठा । किन्तु कुछ न हो सका । दिन पर दिन दर्द बढ़ता ही गया । मालती ने शायद कुछ समझ पाया, शायद न समझी । डाक्टरों को उसने बिदा किया । लोग उसकी निन्दा करने लगे; कहने लगे—‘पैसों के लिए इसने अमरनाथ का इलाज बन्द कर दिया ।’

सब बातों को शान्तभाव से मालती सुनती और वैसे ही कहती—
“अब पति का इलाज स्वयं करूँगी ।”

(५)

वही दूटा-फूटा छोटा घर । मैले-कुचैले खाट-विस्तर, नौकरों की भीड़ नहीं । मोटर का हार्न नहीं ।

अमरनाथ खाट पर बैठा दलिया पी रहा था । और मधुमालती मोटे कपड़े पहने पंखे से दलिया ठण्डा कर रही थी ।

सङ्कोच से अमरनाथ ने पूछा—“इस घर में फिर क्यों चली आईं मालती ? नौकर-चाकर सब कहाँ गये ? और गाड़ी क्यों नहीं दीखती ?”

“गाड़ी बेच दी । नौकर छुड़ा दिये । लो, पी लो ।”

“मुझसे पूछा तक नहीं । इस तरह तुम नहीं रह सकती हो मालती । बीमार पड़ जाओगी ।”

“मैं ? कुछ न होगा ।”

“तुमने ऐसा क्यों किया ?”

“क्योंकि ज़रूरत पड़ गई थी ।”

“ज़रूरत पड़ी थी ?”—विस्मय से मुंशी ने पूछा ।

“पढ़ी थी।”

“कैसी जरूरत ?”

“उस सुख को तुम सह नहीं सकते थे। तुम्हारे भाग्य में सुख से, चैन से, रहना लिखा नहीं है तुम्हें चाहिए सूखी रोटी, जिन्दगी की कमाई रख छोड़ना दूसरे के लिए। सो वही इलाज कर रही हूँ मैं।”

“चलो मालती उसी घर में।”

“नहीं अब मैं वैसा कर नहीं सकती हूँ। एक बार तुम्हारे भाग्य के साथ विरुद्ध आचरण करके तुम्हें खोने बैठी थी। अब वैसा नहीं कर सकती ईश्वर तुम्हारी सूखी रोटियों को ही कुशल से रखे। मेरे लिए तो खीर, पूरी राज बनती है।”

मुंशी लजा गया।

मालती की दवा से मुंशी को स्वस्थ होते देखकर लोग विस्मित हुए।

उस दिन पड़ोसिन ने अत्यन्त विनय से कहा—“मालती बहन, मेरे उनको अच्छा कर दो तुम।”

‘क्या बीमारी है ?’—एक कौतुकपूर्ण हँसी से मालती ने पूछा।

“सूखते जाते हैं। देह में खून नहीं है। डाक्टरों ने ताकत की चीज़ खाने को कहा है, इतना घी, मक्खन—”

बात काटकर मालती बोली—“नहीं-नहीं, यह सब कुछ नहीं दो, सूखी रोटी दो।”

“सूखी रोटी ? और डाक्टरों का कहना है बलकारक भोजन दो, मेवा, दूध, मलाई, मक्खन।”

“किन्तु बहन, मेरे पास तो सूखी रोटी का इलाज है।”

मालती शान्त मुख से काम करने लगी और पड़ोसिन विस्मय से उसका मुख निहारने लगी।



काल की देन

बात रही है न सतयुग की, और न त्रेता-द्वापर की और कलियुग की भी नहीं। अब तो बात रही है—विज्ञान-युग की, विज्ञान-सम्मत, बिल्कुल सच्ची-सच्ची। बुढ़ापे के कुछ पहिले ही विपिनचन्द्र द्वितीय विवाह कर लाया। सूना घर भर उठा। फिर भी एक बार—कोई एक युग के बाद-दरवाजे पर ढोल-नगाड़े बज उठे, अँगरेज़ी बाजा भी। महीना भर भोज चलता रहा। और फिर चले भी क्यों नहीं ?

पहली और दूसरी बात—एक तो धनवान्, बाल-बच्चे कुछ नहीं, उस पर कवि, उपन्यासकार—कहानी-लेखक इत्यादि—हाँ और निबन्ध-लेखक, आलोचक—यह सब एक ही साथ। और घर में यह अवसर भी मानों पहली बार ही हुआ। उसके पहले विवाह की बात तो शहरवासी प्रायः भूल ही गये थे। और उन्हें भी दोष नहीं दिया जा सकता है। यदि स्वयं विपिन ही उस बात को भूल गया हो, तो दूसरों का भूलना तो एक साधारण सी बात थी।

नववधू बल्लरी के नवोढ़ा वय की प्रथम बेला कटने भी न पाई, कि उसके तीक्ष्ण नयनों में, पति की झुकी कमर की कदर्यता खटकने लग गई।

और जब एक अनहोनी बात, वास्तव के रूप में, सामने आ गई, तब विमूढ़ खुशी से वह रह गया—विमूढ़ ही सा।

कौन ? वही विपिनचन्द्र। जिस रंग-रूप रसमयी इन्द्र-सभा की श्रेष्ठ सुन्दरी को, कल्पना के वायुयान में बैठाकर—वह अपने उपन्यास, कहानी आदि के नायिका के आसन को अलंकृत किया करता था, अब वही कहानी की सुन्दरी मोहिनी नायिका, उसके जीवन में वास्तविक होकर जीवित हो उठी थी।

बल्लरी—अनुपम सुन्दरी बल्लरी, शिक्षिता मार्जितरुचि, विलासिनी बल्लरी—नवयौवना बल्लरी को विपिन नेत्रों में भर लेना चाहता, उस अटूट

रूपयौवन को आकट पीकर वह स्वयं युवक बन जाना चाहता । आदर-सोहाग से उसे भर देना चाहता । किन्तु वैसा कुछ कर न पाता और शेष बच रहता उसके लिये व्यर्थता का हा-हा-कार !

जी उसका हाय-हाय करने लगता—विधाता का यह कैसा अन्याय—अविचार है ? नहीं कैसे ? जब उसका रूप था, शरीर में स्फूर्ति थी, मुख की रेखा इस तरह से कुञ्चित नहीं हुई थी, जब शरीर में सूर्य-किरण सी अम्लान ज्योति थी, युवक मन की भावना में जब रंगीन पुष्प खिले रहा करते थे,—और लेखक के नाते जब कामना के राज्य में, मन बहा-बहा फिरता था, ऐरावत के साथ भी कभी युद्ध में जयी हो जाता था. पक्षी-राज घोड़े की पीठ में सवार, कभी सुवर्ण-पर्वत की परी कन्या को भी लूटकर लाया करता था, तब दिया गया उसके हाथ पर एक असुन्दर साधारण गृहिणी को । और जब उस नारी में उसके क्षुधित यौवन रूप की प्यास सौन्दर्य-बोध भी जब मरकर भूत हो रहे—तब आया उसके लिए आकाश के तारों में घिरा हुआ, सुधापूर्ण स्वर्ण-कलश । अब इसे लेकर वह करे भी क्या ? किसके घर धरोहर रखे ।

विपिन का जी हाय-हाय कर उठता, कहाँ गया वह यौवन और कहाँ गया वह सूर्य-सम यौवन के बीच का मन ?

वह झुकी कमर को तोड़-मरोड़ कर सीधा करना चाहता, झुर्रियाँ पड़े हुए मुख पर क्रीम, पाउडर मलता, मूँछ पर कल्प लगाता, कल्प लगे बालों को ब्रुश से सँवारता, अच्छी से अच्छी पंजाबी सैन्टों की शीशियाँ खाली करता, नकली दाँतों को सुधार-सँभारकर मुख में रखता, और बड़े मन को हरे बाजरे के खेत में बाँध देना चाहता ।

तितली सी रङ्गीन बनी बल्लरी उल्लसित नदी की भाँति उसके निकट पहुँच जाती, और रङ्ग-कौतुक से प्रेमगान से पति को मस्त करना चाहती । दूसरे ही पल निराशा-व्यथा से सुन्दरी के नेत्र स्तिमित हो रहते । मँड़राती हुई दीर्घ श्वास हृदय से निकलती और विपिन के कानों तक पहुँच जाती । तब विपिन पत्नी की ओर चकित दृष्टि उठाता, एक अपराधी-सा पूछता

“यदि तुम कुछ दिन के लिए छुट्टी दे दो बल्लरी, तो मैं नया बनकर लौटूँ।”

“किस तरह ?” विस्मय से वह पूछती।

“विज्ञान का युग है यह, वैज्ञानिक रीति से बूढ़ा जवान बन जाता है।”

“ऐसा ! तो फिर देर किस लिए कर रहे हो ?” उसका आकुल स्वर विपिन के हृदय में ध्वनित हो उठता, कहता वह—“नहीं, देर कैसी ? सोच रहा था—उतने रुपए खर्च भी कर डालूँ !”

“कौन सी बड़ी बात है ! रुपयों की क्या कमी है ! थोड़े से रुपयों के लालच में बुढ़ापे को सँभारे रहना कौन सी बुद्धिमानी है ? यदि रुपयों के बल पर जवानी खरीदी जा सके, तो देरी क्यों कर रहे हो ?”

विपिन उस जवानी को खरीदने के लिए चल पड़ा—समुद्र के उस पार। उसका जी शङ्कित हो उठा। वह जीवन-मृत्यु की सन्धि में जा रहा है। यदि मर गया तो ? मरने के साथ राशिकृत रुपये भी नष्ट हुए और यदि जी उठा तो ? — मिलेगी उसे उन रुपयों के बदले जवानी। एक खुशी, एक आतङ्क से वह अन्त में चल पड़ा।

(२)

उस दिन हिन्दुस्थान एक नवीन रस के भीतर जागकर बैठ गया था। प्रकृति ने वसंत को पत्र-पुष्प का हार पहिनाकर उसे कोकिल के स्वर में भर दिया था। और कोकिल चाँदनी के पलने पर बैठी, पर फैला-फैलाकर गान में मस्त रही थी। नींददेश की राज-कन्या ने मानों होड़ लगा ली थी—रात भर जागने की।

और उस स्वप्निल चाँदनी में, स्वप्न परी-सी खुले छत पर बैठी थी बल्लरी, रंग-रूप, साज बाज से मस्तानी, सैंट-पाउडर में बसी थी। उस चाँदनी में बैठी वह गुनगुना रही थी। हल्के बादामी रंग की साड़ी, सफ़ेद ज़री की किनारी, लाल रेशमी ब्लाउज़, हीरे के इयरिंग, मोती की चूड़ियाँ, पैर में महावर और माथे पर की लाल बिंदी, इन सबको मिला-

कर बल्लरी के खिले कमल-सा रूप, उस चाँदनी की चुप्पी में एक स्वप्न-जाल-सा बुन रहा था ।

बल्लरी—गलीचे पर तकिए के सहारे पर बैठी हुई बल्लरी के उत्सुक नेत्र बार-बार सीढ़ियों की ओर जा रहे थे अघर के पान की ललाई पर विरक्ति की छाया घनी थी. किन्तु फिर भी वह ललाई मोहिनी-सी प्रतीत हो रही थी ।

दीर्घ प्रतीक्षा के बाद विपिन पहुँचा । दम्पति के उस वासर सन्ध्या की ओर उसने देखा, शायद न भी देखा हो ।

कलान्त—श्रान्त तकिए से टिककर वह बैठ गया । “जाग रही हो ?”

अभिमानिनी बल्लरी ने मुँह फेर लिया—इस दीर्घ प्रतीक्षा के बाद ऐसी जिज्ञासा ? और नारीत्व का ऐसा परिहास ! वह भी पति ही से ?

पत्नी का मनोभाव पति समझ न पाया । वैसे ही नेत्र मुदित किये हुए विपिन ने पूछा --“कमरे के भीतर तो अभी ज़्यादा गर्मी नहीं होती, फिर छत पर क्यों बिस्तर लगा लिया ?”

“चाँदनी को देखने के लिए ! तुम्हें ऐसी रात अच्छी नहीं लगती ?”

विपिन ज़रा सीधा होकर बैठा—

“चाँदनी ! अमर चाँदनी किसे अच्छी नहीं लगती ? और फिर तुम्हारे साथ ।” हाँ—तब बूढ़े से जवान होकर ही विपिन भारत में लौटा था । उसे लौटे कोई दस दिन हुए होंगे ।

भुकी हुई कमर कुछ सीधी हो गई थी, शरीर तन गया था, गालों पर सिकुड़न नहीं थी, निस्तेज नेत्रों में ज्योति भर गई थी, शरीर में युवकों की स्फूर्ति थी और मन ! कौन जाने किसी के मन की बात ?

बल्लरी का मुरझाया-सा जी—पति की इस बात से फूले हुए कमल-सा खिल उठा । वह विपिन के निकट ज़रा खिसककर बैठी । हँसकर पूछा—“कहो तो सही. इस चाँदनी में बैठकर कैसी भावना होती है ?”

विपिन ने आकाश की ओर देखा और फिर देखता ही रह गया ।

असहिष्णु बल्लरी कह उठी, “अब किसका ध्यान करने लग गये ? रम्भा-तिलोत्तमा का ?”

शान्त समाहित स्वर से विपिन ने उत्तर दिया, “परमात्मा का । ऐसी चाँदनी में जब मैं बैठता हूँ बल्लरी, तब ऐसा लगता है कि विश्व का रहस्य इसी चाँदनी में स्वच्छ है, कभी ऐसा भी लगता है मानों इस स्वच्छ दर्पण में परमात्मा की छवि अँको है ।

“हँसती हो ! परन्तु सच कहता हूँ, बल्लरी, आधी रात की चुप्पी में, मैंने इसी चाँदनी की छटा में ओंकार ध्वनि को साकार पाया । पाया है मैंने—देखा है मैंने—इसी चाँदनी की छाया में उस अनन्त रूप को—इसी चाँदनी में एकाकार हुए ।”

इसके बाद विपिन चुप हो गया—एकदम चुप ।

बल्लरी सहसा खिलखिलाकर बोली—“तुम्हारी बात सुनकर मुझे हँसी आ रही है—ऐसी मीठी. नशीली चाँदनी और परमात्मा का रूप ? मैं तो इस नशे को पीकर मतवाली हो जाती हूँ । गलती है—नहीं न कहूँगी ।” बल्लरी न जाने क्यों शर्मा गई ।

चकित विपिन ने पत्नी की ओर देखा—और फिर पल-पल में शिशु की भाँति मचलना चाहने लगा । पत्नी के हरे मन में, अपने बूढ़े मन को समा देना चाहने लगा और चाहने लगा वह बल्लरी की भावना में अपनी भावना को परिवर्तित कर देना ।

हँस-हँसकर कहने लगा वह, “कहो रानी, कहो-कहो । मैं जो अधीर हो रहा हूँ । दया नहीं आती तुमको ?”

“और तुम्हीं पर”, एक ताने के साथ कहा बल्लरी ने ।

“तो मैंने बल्लरी के दरबार में कौन-सा अपराध किया है ?”

“अपराध ! इतने दिन के बाद लौटे, वह भी दस दिन भी न हुए होंगे और अब भी मैं देखने का तरसूँ !”

“मन्दिर में रामायण हुआ करती है सो वहीं जाया करता हूँ ।” बात सरल और सीधी थी । किन्तु न जाने क्यों, बल्लरी का मुख अमावस्या-

सा अन्धकार-पूर्ण हो गया। वह ऐसी सहसा उठकर चल दी कि विपिन कुछ सोचने, समझने, कहने-सुनने भी न पाया।

(३)

बूढ़े से जवान तो हो गया विपिन, किन्तु तब वह अपनी स्फूर्ति को मन-शरीर में समा न रख सकने लगा। सो उसने अपनी स्फूर्ति प्रकाश करने का साधन बना लिया हुक्का और शतरञ्ज को।

रात-दिन हुक्के की गुड़गुड़ाहट और शतरञ्ज की बाज़ी चला करती। उसकी बैठक में दस-पाँच सज्जन उसे घेरे ही रहते। रात में व सन्ध्या में भङ्ग छनती और अन्तःपुरी में बल्लरी के अन्तर की रसिका विलासिनी, प्रेम-विह्वल युवती-नारी, अन्तर ही में सर पीटा करती।

न जाने कब बल्लरी का मन हा-हाकार से भर उठा। उसका स्वास्थ्य भङ्ग होने लगा। वह स्वयं भी नहीं जान पाई।

उस दिन बल्लरी को जब रोदन असह्य हो उठा तो किसी से कुछ कहे बिना ही चल पड़ी, मायके को। और वहाँ पहुँचकर जब वह आँसू से भर उठी तब वहाँ पहुँच गया विपिन,—तीन दिन भी वह सूने घर में रह नहीं सका। और वैसे ही वह दौड़ता पहुँच गया समुराल।

पति की ओर से अभिमानिनी बल्लरी ने मुँह फेर लिया। “नहीं मैं उस घर में नहीं जा सकूँगी।”

“क्यों बल्लरी?” आदर से पत्नी को व्यस्त करता हुआ कहने लगा विपिन, “तो मैं ही वहाँ रहकर क्या करूँगा? तुम्हारे बिना जी मेरा सूना हो जाता है। और फिर तुम भी वहाँ क्यों न चलोगी।”

“उस घर में मेरी साँस रुक जाती है।”

“ऐसा क्यों, बल्लरी?”

“मैं वैसा निःसंग जीवन नहीं बिता सकती।”

विपिन हँसकर एक गम्भीरता से कहने लगा, “सङ्ग चाहती हो तुम तो लो, मैं तुम्हें निरन्ध्र सङ्ग देने के लिए सदा तैयार बैठा हूँ। चलो न, कितना सङ्ग चाहती हो तुम।”

“दोगे तुम सङ्ग ! सुनाओगे तुम नित्य प्रेम की कथा ! झूठ, बिल्कुल झूठ। तुम तो हुक्का और शतरंज के साथी हो। रामायण...”

“ऐसी बात ! तो मैं शपथ करता हूँ, आज से पाँसा आदि न खेलूँगा। और प्रेम की कथा ! तो कितना सुनना चाहती हो तुम ! डुबो दूँगा उस कथा में तुम्हें।”

“नहीं-नहीं, मैं यहीं भली हूँ।” बल्लरी मुँह बनाकर बैठी ही रही।

“न चलेगी ! फिर इतने रूप खर्च कर यह जवानी खरीदी किसके लिए गई है बल्लरी !”

बल्लरी हँस पड़ी और उस हँसी को देखकर विपिन के हृदय पर दबा हुआ बोझ उतर गया।

“बढ़ी नटखट हो तुम। मुझे तीन दिन रुला ही लिया।”

“और तुम तो मुझे वर्षों से रुला रहे हो।”

“वर्षों से ! किन्तु वह मेरी समझ की भूल थी। और न समझाने की शक्ति तुम्हारी।”

इसके बाद प्रसन्न चित्त से बल्लरी घर लौटी, पवन में बड़ी बह।

बल्लरी के उठने में, बैठने में, गान में, गल्प में हास-पारहास में, विपिन रमा-रमा-सा। दिन-रात उसके कानों में वह प्रेम-राग भरा करता। किन्तु फिर भी उस गाने से बल्लरी का जी उल्लसित न हो उठता। न जाने कैसा एक अभाव, कैसा दैन्य उसके अन्तर को विषाद-खिन्न विये रहता। उसका जी हाय-हाय कर उठता। पति के इस खरीदे हुए यौवन में कहाँ है वह युवक का उच्छृङ्खल प्रेम ! कहाँ है वह युवक की खुशी। कहाँ है युवक की वह नग्न आमोद की तृष्णा !

और विपिन ! वह इस खरीदे हुए यौवन में बीस वर्ष पहले की विपिन की उच्छृङ्खलता को मूर्त करना चाहता। शायद सफल होता —

शायद न होता । पढ़े हुए तोते की भाँति वह पत्नी को अविराम प्रेम-सङ्गीत सुनाया करता, बस इतना ही ।

उस दिन जब सूर्य-ग्रहण से ढका हुआ शहर धीरे-धीरे स्वाभाविक स्थिति में पहुँचने को हुआ, तब एक सङ्गीतकारी पत्नी की भाँति खुशी-गान में मस्त बल्लरी साज-शृङ्गार शेष कर दालान में पहुँची, वहीं मिल गया उसे विपिन ।

“तुम्हीं को ढूँढ़ता फिर रहा हूँ, बल्लरी ।”

“और मैं तुम्हें ।” बल्लरी हँस पड़ी ।

“गाड़ी खड़ी है; चलो ।” विपिन ने कहा । बल्लरी ने पति के गले में पड़े हुए गमछे को एक बार देखा, दूसरी बार पैर की खड़ाऊँ को, फिर एक अचम्भे से पूछ उठी—“इस ड्रेस में कहाँ चलते हो ?”

“गङ्गास्नान के लिए यही ड्रेस तो ठीक है; चलो देर क्यों कर रही हो ?”

अवाक् विस्मय से बल्लरी ने उसे देखा और एक हताश पीड़ा से उसके मुख की आभा पीड़ित-सी हो रही । और जब वह बात कर सकी तब यही कहा—“मिस्टर दत्त और मिस चौधरी सब तैयार हो चुके और मैं भी ।”

“तो देर क्यों कर रही हो ? चलो गङ्गा-स्नान को ।”

“गङ्गा-स्नान—और मैं ? और ऐसे एक सपने-भरे दिन में ? नहीं-नहीं ।”

“नहीं जाओगी ? सूर्य-ग्रहण के बाद गङ्गा-स्नान—।”

“नहीं—नहीं इस सपने की मधुरता का मैं पूर्ण उपभोग करना चाहती हूँ । पिक-निक के लिए किङ्ग-गार्डन में जा रही हूँ । तुम भी साथ चलो ।”

“मैं ? माफ़ करो बल्लरी, आज गङ्गा-स्नान कर लो । जब कि सूर्य पर विपत्ति पड़ी हुई है तब ऐसे समय आभेद की भावना—”

“ऐसे समय की आभेद की भावना निन्दनीय है ?”

पति की बात को पूरा कर कहने लगी बल्लरी, “तो यौवन को क्यों खरीदने गये थे ! यदि यौवन-प्राप्त मन में वृद्ध की भावना ही काया-युक्त है, तो इस यौवन को खरीदने से लाभ ही क्या हुआ !”

“भूल हो गई है, बल्लरी—गहरी भूल, यौवन को खरीद लिया मैंने—मनुष्य के हाथ से । परन्तु काल की देन को, मैं छोटा प्राणी खरीद ही कैसे सकता हूँ !” विपिन के मुख में तब विषाद-खिन्न थोड़ी-सी हँसी रही और बल्लरी की निराश व्यथा ।

